वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक ज्योति

वर्ष ५० अंक ७
जुलाई २०१२

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई २०१२

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५०
अंक ७

वार्षिक ६०/- **एक प्रति ८/-**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/-
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/- ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३, २५०

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

वर्ष ५० **जुलाई २०१२** **अंक ७**

पुरखों की थाती

उपकर्तुं यथा स्वल्पः समर्थो न तथा महान् ।
प्रायः कूपस्तृषां हन्ति न कदापि तु वारिधिः ।।७७।।

– छोटे लोग व्यक्ति का उपकार करने में जैसे समर्थ होते हैं, वैसे बड़े लोग नहीं होते; जैसे कुँआ ही प्यास बुझाने में समर्थ होता है, समुद्र कभी नहीं।

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ।।७८।।

– जो स्वयं पर उपकार करनेवालों के प्रति ही साधुता दिखाता है, उसकी साधुता कोई गुण नहीं है; इसके विपरीत अपना अनिष्ट करनेवाले के प्रति दिखाई गई साधुता ही सज्जनों द्वारा साधुता कही जाती है।

उपकारः परो धर्मः परार्थं कर्म-नैपुणम् ।
पात्रे दानं परः कामः परो मोक्षो वितृष्णता ।।७९।।

– सत्कर्म ही श्रेष्ठ धर्म है, परोपकार ही कर्म-कुशलता है, सत्पात्र को दान करने की इच्छा ही श्रेष्ठ कामना है और वैराग्य ही परम मुक्ति है।

उपकारान् स्मरेन्नित्यम् अपकारांश्च विस्मरेत् ।
शुभे शैघ्र्यं प्रकुर्वीत अशुभे दीर्घसूत्रता ।।८०।।

– व्यक्ति दूसरों के द्वारा किये गये उपकारों को सदैव याद रखे और अपकारों को भुला दे; भले कार्यों में शीघ्रता करे और बुरे कार्यों में देरी करे। (वाल्मीकि)

उपकारो हि नीचानां अपकारो हि जायते ।
पयःपानं भुजंगाणां केवलं विषवर्धनं ।।८१।।

– नीच लोगों का उपकार भी करने जाओ, तो उसके बदले में वे हानि ही पहुँचाते हैं, जैसे कि नाग को दूध पिलाने से उसके विष में ही वृद्धि होती है।

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।।८२।।

– जो काम उपाय से हो सकता है, वह पराक्रम से नहीं होता।

उपायं चिन्तयेत् प्राज्ञो ह्यपायमपि चिन्तयेत् ।।८३।।

– बुद्धिमान को चाहिए कि वह उपाय के साथ-साथ उससे सम्भावित हानि पर भी विचार कर ले।

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागोदर-संस्थानां परीवाह इवाम्भसम् ।।८४।।

– जैसे तालाब भर जाने पर उसमें से जल को बहाना ही उसकी रक्षा का उपाय है, वैसे ही कमाये हुए धन का त्याग करते रहना ही उसकी रक्षा करना है।

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम् ।।८५।।

– जैस पक्षी अपने दोनों पंखों की सहायता से ही आकाश में उड़ते हैं, वैसे ही ज्ञान तथा कर्म – दोनों के द्वारा ही परम लक्ष्य की प्राप्ति होती है। (योग-वाशिष्ठ)

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् शृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।।८६।।

– मैं अपने दोनों हाथ उठाकर कहता हूँ, पर कोई भी मेरी बात नहीं सुनता कि धर्म के द्वारा ही धन तथा काम की प्राप्ति होती है, अत: लोग धर्म का सेवन क्यों नहीं करते ! (महा.)

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ।।८७।।

– धर्म (पुण्य) ही एकमात्र ऐसा मित्र है, जो मृत्यु के उपरान्त भी व्यक्ति के साथ जाता है, बाकी सब कुछ तो शरीर के साथ ही नाश को प्राप्त हो जाता है।

❖ (क्रमशः) ❖

गीति-वन्दना

– १ –

(भैरवी-एकताल)

छोड़ वाग्जाल को, नाम ही जपा करो ।
भोग-रोग से विरत, त्याग में तपा करो ।।

निज स्वधर्म में रहो, सत्य हेतु सब सहो ।
मोह-भय-प्रमाद को, द्रुत रफा-दफा करो ।।

नाम, काम, दाम सब, जोड़ दुख बढ़ा न अब
'राम-कृष्ण' नाम निज, दिव्य सम्पदा करो ।।

कार्य ईश-प्रीति से, गाँठ बाँध लो इसे ।
मूल को सँभालकर, जो भी हो नफा करो ।।

तत्त्वबोध ज्ञान हो, नित 'विदेह' ध्यान हो ।
व्याप्त विश्व हैं प्रभू, अर्चना सदा करो ।।

– २ –

(भैरवी-एकताल)

दिन बहुत गुजर गये, दीन पर दया करो ।
स्निग्ध स्पर्श से प्रभो, मेरी भव-व्यथा हरो ।।

कण्ट-कीट पूर्ण मग, किन्तु थम रहे न पग ।
जब कभी कुपथ चलूँ, कर सरोज से धरो ।।

विघ्न कोटि पार कर, आ पड़ा हूँ द्वार पर ।
पाँव अब न छोड़ता, जो कहो 'टरो-टरो' ।।

तर गये अधम बड़े, किन्तु हम रहे खड़े ।
भूलना स्वधर्म मत, लोकलाज से डरो ।।

शून्य है हृदय पड़ा, अन्धकार है बड़ा ।
चित्त में विराजकर, भाव-भक्ति से भरो ।।

तुम प्रकाश रूप हो, दिव्यता स्वरूप हो ।
चिर 'विदेह' चित्त में, ज्योति-बिन्दु हो झरो ।।

पश्चिमी देशों में धर्म-प्रचार

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

मैं धर्म-महासभा का उद्देश्य लेकर अमेरिका नहीं गया था। सभा तो मेरे लिए एक गौण वस्तु थी, पर नि:सन्देह उससे हमारा रास्ता बहुत-कुछ साफ हो गया और कार्य करने की काफी सुविधा हो गयी। इसके लिए हम महासभा के आयोजकों के विशेष रूप से आभारी हैं। पर वास्तव में हमारा धन्यवाद संयुक्त राज्य अमेरिका के निवासी, सहृदय, आतिथेय, महान् अमेरिकी जाति को मिलना चाहिए, जिसमें दूसरी जातियों की अपेक्षा भ्रातृभाव का अधिक विकास हुआ है। रेलगाड़ी पर पाँच मिनट किसी अमेरिकी के साथ बातचीत करने से वह तुम्हारा मित्र हो जायेगा, दूसरे ही क्षण वह तुम्हें अतिथि के रूप में अपने घर निमंत्रित करेगा और अपने हृदय की सारी बात खोलकर रख देगा। यही अमेरिकी जाति का चरित्र है और मैं इसे खूब पसन्द करता हूँ। मेरे प्रति उन्होंने जो अनुकम्पा दिखलायी, उनका वर्णन नहीं हो सकता। मेरे साथ उन्होंने कैसा अपूर्व स्नेहपूर्ण व्यवहार किया, उसे प्रकट करने में मुझे कई वर्ष लग जायेंगे।[१]

अमेरिका के पारिवारिक जीवन के विषय में मुझे अनेक निरर्थक कहानियाँ सुनने को मिलीं – यथा, वहाँ स्वाधीनता स्वेच्छाचार तक पहुँच जाती है, वहाँ की अनारी-सुलभ स्त्रियाँ स्वाधीनता के उन्माद-नृत्य में अपने पारिवारिक जीवन की सुख-शान्ति को पददलित कर चूर्ण-विचूर्ण कर देती हैं और ऐसी ही और भी ढेर सारी बकवासें। परन्तु अब एक वर्ष के बाद अमेरिकी परिवार तथा अमेरिका की स्त्रियों के विषय में मुझे जो अनुभव प्राप्त हुआ है, उससे यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि उक्त प्रकार की धारणाएँ कितनी भ्रान्त तथा निर्मूल हैं। अमेरिकी महिलाओ ! सौ जन्म में भी मैं तुमसे उऋण न हो सकूँगा। मेरे पास तुम्हारे प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये भाषा नहीं है। 'प्राच्य अतिशयोक्ति' ही प्राच्यवासी मानवों की कृतज्ञता की गम्भीरता को प्रकट करने की एकमात्र भाषा है, "यदि समुद्र दावात हो, हिमालय पर्वत लेखनी हो, पृथ्वी कागज हो और काल स्वयं ही लिखें, तो भी तुम्हारे प्रति मेरी कृतज्ञता प्रकट करने में ये समर्थ नहीं हो सकेंगे।"

पिछले वर्ष ग्रीष्म में दूर देश से नाम-यश-धन-विद्याविहीन, बन्धुरहित, असहाय दशा में प्राय: खाली हाथ जब मैं एक भ्रमणशील प्रचारक के रूप में इस देश में आया, तब अमेरिका की महिलाओं ने ही मेरी सहायता की, मेरे ठहरने तथा भोजन की व्यवस्था की, मुझे अपने घर ले गयीं तथा मेरे साथ अपने पुत्र तथा भाई जैसा बर्ताव किया। उनके पुरोहितों ने जब उन्हें इस 'भयानक विधर्मी' को त्याग देने के लिए बाध्य करना चाहा, जब उनके सबसे अन्तरंग बन्धु 'इस सन्दिग्ध भयानक चरित्र वाले अपरिचित विदेशी व्यक्ति' का संग छोड़ने के लिए उपदेश देने लगे, तब भी वे मेरी मित्र बनी रहीं। किन्तु ये महिलाएँ ही मानव-चरित्र तथा मानव-स्वभाव की सच्ची निर्णायक हैं, क्योंकि स्वच्छ दर्पण में ही प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ता है।

मैंने यहाँ कितने ही सुन्दर पारिवारिक जीवन देखे हैं, कितनी ही ऐसी माताओं को देखा है, जिनके निर्मल चरित्र तथा नि:स्वार्थ सन्तान-स्नेह का वर्णन भाषा में नहीं किया जा सकता। मैंने देखा है – देवी डायना के मन्दिर पर पड़नेवाली तुषार-कणिकाओं जैसी पवित्र कितनी पुत्रियाँ तथा पवित्र कन्याएँ – तदुपरान्त उनकी वैसी ही संस्कृति, शिक्षा और वैसी ही सर्वोच्च कोटि की आध्यात्मिकता ! तो क्या अमेरिका की सभी नारियाँ देवीस्वरूपा हैं? ऐसी बात नहीं, भले-बुरे सर्वत्र होते हैं। किन्तु दुर्बल व्यक्तियों द्वारा, जिन्हें हम दुष्टों के नाम से अभिहित करते हैं, किसी राष्ट्र के बारे में किसी तरह की धारणा नहीं बनायी जा सकती, क्योंकि वे तो व्यर्थ के कूड़े-करकट की तरह पीछे रह जाते हैं; जो लोग भले, उदार तथा पवित्र होते हैं, उनके द्वारा ही राष्ट्रीय जीवन का निर्मल तथा प्रबल प्रवाह सूचित होता है। ...

अमेरिका की आधुनिक महिलाओं के विशाल और उदार मन की मैं प्रशंसा करता हूँ। मैंने इस देश में अनेक उदार पुरुषों को भी देखा है, उनमें से कोई-कोई तो अत्यन्त संकीर्ण मनोवृत्तिवाले सम्प्रदायों के अन्तर्गत हैं। भेद केवल

इतना ही है कि पुरुषों के विषय में यह आशंका बनी रहती है कि उदार बनने के लिए वे अपना धर्म, अपनी आध्यात्मिक विशिष्टता खो सकते हैं, परन्तु महिलाएँ जहाँ कहीं भी भलाई देखती हैं, उसे सहानुभूतिपूर्वक, उदारता के साथ, अपने धर्म से तनिक भी विचलित हुए बिना, ग्रहण करती हैं।[२]

इस देश की सी महिलाएँ दुनिया भर में नहीं हैं। ये कैसी पवित्र, स्वावलम्बी और दयालु हैं। महिलाएँ ही यहाँ की सब कुछ हैं। शिक्षा, संस्कृति – सब उन्हीं में घनीभूत हैं।...

जैसी सफेद यहाँ की बर्फ है, वैसी ही शुद्ध मनवाली यहाँ हजारों नारियाँ हैं।[३]

जब मैं इस देश में आया, तो इतने उदार पुरुषों और महिलाओं से मिलकर चकित रहा गया। किन्तु धर्म-महासभा के बाद एक महान् प्रेसबिटेरियन (ईसाइयों के एक प्रमुख पन्थ के) समाचार-पत्र ने एक तीखे लेख से मेरा स्वागत किया। सम्पादक ने उसे 'उत्साह' कहा था।[४]

जरा सोचो, सभ्यता के प्रति तुम्हारे सारे दावों के बावजूद एक बार इस देश में इस कारण मुझे बैठने के लिए कुर्सी नहीं दी गयी थी कि मैं हिन्दू हूँ।[५]

विदेशों में कई जगह मैंने लोगों में दूसरों के धर्म के प्रति ऐसा घोर विद्वेष देखा कि उनके आचरण से मुझे जान पड़ा कि यदि ये मुझे मार डालते, तो भी आश्चर्य नहीं होता।[६]

इंगरसोल ने मुझसे कहा था, "यदि तुम पचास साल पहले यहाँ ज्ञान सिखाने आते, तो या तो तुम्हें फाँसी पर चढ़ा दिया जाता या जिन्दा जला दिया जाता अथवा पत्थर मार-मारकर तुम्हें गाँवों से बाहर निकाल दिया जाता।"[७]

उस हिन्दू पर मुझे तरस आता है, जो ईसामसीह के चरित्र में किसी सौन्दर्य का दर्शन नहीं कर पाता। मुझे उस ईसाई पर दया आती है, जो 'हिन्दू ईसा' का सम्मान नहीं करता।[८]

नाजरथ के ईसा के दिनों में यदि मैं पैलेस्टाइन में रहा होता, तो मैंने अपने आँसुओं से नहीं, अपितु अपने हृदय के रक्त से उनके चरण पखारे होते।[९]

संघर्ष को व्यक्त करनेवाले पत्रांश –

१५ नवम्बर १८९४ : मैंने कई विचित्र दृश्य और शानदार चीजें देखीं। मुझे यह जानकर खुशी हुई कि आपके यूरोप आने की बहुत कुछ सम्भावना है। जैसे भी हो, इस अवसर का लाभ उठाइए। संसार के दूसरे राष्ट्रों में पृथक् रहना हमारी अवनति का कारण हुआ और पुन: सभी राष्ट्रों से मिलकर संसार के प्रवाह में आ जाना ही इसे दूर करने का एकमात्र उपाय है। गति ही जीवन का लक्षण है। अमेरिका एक शानदार देश है। निर्धनों तथा नारियों के लिए यह नन्दन-वन-स्वरूप है। इस देश में गरीब तो मानो कोई है ही नहीं। संसार में कहीं भी स्त्रियाँ इतनी स्वतंत्र, इतनी शिक्षित तथा इतनी सुसंस्कृत नहीं हैं। वे ही समाज में सब कुछ हैं।

यह एक बड़ी शिक्षा है। संन्यास-जीवन का कोई भी धर्म – यहाँ तक कि अपने रहने का तरीका भी नहीं बदलना पड़ा है। फिर भी इस अतिथि-वत्सल देश में हर घर मेरे लिए खुला है। जिस प्रभु ने भारत में मुझे मार्ग दिखाया, क्या वह मुझे यहाँ मार्ग न दिखाता? मार्ग दिखा रहा है!

आप शायद यह न समझ सके होंगे कि अमेरिका में एक संन्यासी के जाने का क्या काम! परन्तु यह आवश्यक था, क्योंकि संसार द्वारा मान्यता प्राप्त करने के लिए आप लोगों के पास एक ही साधन है – वह है धर्म; और यह आवश्यक है कि हमारे आदर्श धार्मिक लोग विदेशों में भेजे जायँ, ताकि दूसरे राष्ट्रों को मालूम हो कि भारत अभी भी जीवित है। ...

वह संन्यासी, जिसमें मनुष्यों के कल्याण करने की कोई इच्छा नहीं, वह तो संन्यासी नहीं, पशु है!

न तो मैं केवल दृश्य देखने वाला यात्री हूँ और न ही निरुद्देश्य पर्यटक। यदि आप जीवित रहेंगे, तो मेरा कार्य देख सकेंगे और आजीवन मुझे आशीर्वाद देंगे।[१०]

शिकागो, नवम्बर १८९४ : अमुक-अमुक यहाँ थे। वे चाहते थे कि व्याख्यान देकर कुछ धनोर्पाजन करें। कुछ उन्होंने किया भी, परन्तु मैंने उनसे अधिक सफलता प्राप्त की – क्यों? इसलिये कि मैंने उनकी सफलता में कोई बाधा नहीं डाली। यह सब ईश्वर की इच्छा से ही हुआ। परन्तु केवल ... को छोड़कर, बाकी लोग इस देश में मेरे बारे में भीषण झूठ रचकर मेरे पीठ-पीछे उनका प्रचार कर रहे हैं। ...

मुझे चिन्ता नहीं कि लोग क्या कहते हैं। मैं अपने ईश्वर, अपने धर्म, अपने देश और सर्वोपरि अपने आप से – एक निर्धन भिक्षुक से प्रेम करता हूँ। जो निर्धन हैं, अशिक्षित हैं, दलित हैं – मैं उनसे प्रेम करता हूँ। उनके लिए मेरा हृदय कितना द्रवित होता है, इसे भगवान ही जानते हैं। वे ही मुझे रास्ता दिखायेंगे। मानवी सम्मान या छिद्रान्वेषण की मैं रत्ती पर भी परवाह नहीं करता। मैं उनमें से अधिकांश को नादान, शोर मचानेवाला बालक समझता हूँ। सहानुभूति तथा नि:स्वार्थ प्रेम का मर्म समझना इनके लिए कठिन है।

श्रीरामकृष्ण के आशीर्वाद से मुझे अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई है। मैं अपनी छोटी-सी टोली के साथ काम करने की चेष्टा कर रहा हूँ; वे भी मेरे समान निर्धन भिक्षुक हैं। आपने इसे देखा है। दैवी कार्य सदैव गरीबों तथा दीन मनुष्यों द्वारा ही हुए हैं। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं अपने प्रभु में, अपने गुरु में और अपने आप में अखण्ड विश्वास रख सकूँ।[११]

मिनियापोलिस, मिनासोटा, २४ नवम्बर १८९३ : जिस दिन मैं यहाँ पहुँचा, उस दिन यहाँ मौसम का पहला

हिमपात हो रहा था और बर्फ सारे दिन और सारे रात गिरती रही। ऐसे में मेरे आर्कटिक जूते खूब काम आये। मैं जमे हुए मिनेहाहा जल-प्रपात देखने गया था। वे बड़े ही सुन्दर लग रहे थे। आज का तापमान शून्य से २१ डिग्री नीचे है, परन्तु मैंने उसी के बीच स्लेज की सवारी की और खूब आनन्द उठाया। मुझे अपनी नाक और कानों के छोर जम जाने का जरा भी भय नहीं लगा।

यहाँ की बर्फ से ढकी दृश्यावली ने मुझे जो आनन्द दिया है, वैसा इस देश के किसी अन्य दृश्य ने नहीं दिया।

कल मैंने लोगों को एक जमी हुई झील के ऊपर स्केटिंग करते देखा।[१२]

डेट्राएट, २० फरवरी १८९४ : यहाँ पर मेरे व्याख्यान सम्पन्न हो गये हैं। मैंने यहाँ कुछ बहुत ही अच्छे मित्र बनाये हैं, पिछले विश्वमेले के अध्यक्ष श्रीयुत पॉमर उनमें से एक हैं। इस स्लेटन (भाषणों का आयोजन करनेवाला एक धूर्त व्यवसायी) के गोरखधन्धे से मैं पूरी तौर से तंग आ गया हूँ और उसे छोड़ने के लिये काफी प्रयत्न कर रहा हूँ। इस आदमी के साथ काम करके मुझे कम-से-कम ५००० डॉलरों की हानि हो चुकी है। ...

निरन्तर होनेवाले ये सत्कार और निशाभोज मुझे थका देते हैं। इनके ये भयंकर निशाभोज – मानो सौ भोजों को संघटित करके एक बना दिया गया हो ! पुरुषों के क्लब में आयोजित होनेवाले इन भोजों में हर व्यंजन के बाद धूम्रपान होता है और उसके बाद फिर नये सिरे से कोई व्यंजन परोसा जाता है। मैं सोचता था कि केवल चीनी लोग ही आधे दिन का भोज करते हैं, जिसमें बीच-बीच में धूम्रपान के लिये अवकाश रहता है ! तथापि ये बड़े ही सज्जन लोग हैं और कहने में यह बात बड़ी विचित्र लगती है, पर एक एपिस्कोपल पादरी तथा एक यहूदी पुरोहित मुझमें गहरी रुचि लेते हैं और मेरे बड़े प्रशंसक हैं। जिस व्यक्ति ने यहाँ व्याख्यान दिया, उसे कम-से-कम हजार डॉलर प्राप्त हुए। ऐसा ही हर स्थान में है। मेरे लिये भी ऐसा ही प्रबन्ध करना स्लेटन का काम है, पर इसकी जगह वह मक्कार मुझसे प्राय: ही कहता रहता है कि उसके एजेंट हर जगह विद्यमान हैं और वे ही लोग मेरे लिये प्रचार तथा बाकी सब प्रबन्ध करेंगे। परन्तु उसकी करनी कुछ और ही है। प्रभु की इच्छा पूर्ण हो। अब मैं घर लौट रहा हूँ। मेरे प्रति अमेरिकी लोगों का जो आकर्षण है, उसके मद्देनजर अब तक मैं एक बहुत बड़ी धनराशि प्राप्त कर चुका होता। पर उसमें बाधा के रूप में प्रभु ने जिम्मी मिल्स और स्लेटन को भेज दिया था। प्रभु के कार्य समझ के परे हैं।

तो भी एक गोपनीय बात कहता हूँ। इस मक्कार स्लेटन से मुझे मुक्त कराने हेतु प्रयास करने अध्यक्ष पॉमर शिकागो गये हुए हैं। प्रार्थना करो कि उन्हें सफलता मिले। यहाँ के कई न्यायाधीशों ने मेरे करारनामे को देखा है। उनका कहना है कि यह एक शर्मनाक धोखा है और इसे कभी भी तोड़ा जा सकता है; परन्तु मैं एक संन्यासी हूँ और आत्मरक्षा नहीं कर सकता। इसलिये सबसे अच्छा तो यह होगा कि मैं सब कुछ ऐसे ही छोड़कर भारत लौट जाऊँ।[१३]

१२ मार्च १८९४ : इस समय मैं श्री पॉमर के साथ रह रहा हूँ। ये बड़े ही मजेदार सज्जन हैं।... एक नाट्यशाला में मैंने ढाई घण्टे का व्याख्यान दिया। लोग बड़े प्रसन्न हुए। ... वस्तुत: ज्यों-ज्यों मुझे लोकप्रियता मिलती जा रही है और बोलने में आसानी होती जा रही है, त्यों-त्यों मैं ऊब रहा हूँ। मेरे सभी व्याख्यानों में मेरा पिछला व्याख्यान ही सर्वोत्तम था। श्री पॉमर तो आनन्दविभोर थे और श्रोतागण ऐसे मंत्र-मुग्ध बैठे रहे कि व्याख्यान के अन्त में ही मैं समझ सका कि मैं इतनी देर तक बोलता रहा। वक्ता को सदा ही श्रोताओं की अस्थिरता और ध्यानाभाव का एहसास हो जाता है। प्रभु मुझे इन व्यर्थ की बातों से बचायें, मैं इनसे ऊब चुका हूँ।[१४]

१५ मार्च १८९४ : मैं बूढ़े पॉमर के साथ आनन्दपूर्वक हूँ। वे बड़े विनोदी और भले सज्जन हैं। ...

मेरे विषय में यहाँ के एक समाचार-पत्र ने सबसे अजीब बात यह लिखी है, "वह तूफानी हिन्दू यहाँ आ धमका है और श्री पॉमर का अतिथि है। श्री पॉमर हिन्दू हो गये हैं और भारत जा रहे हैं; बस, उनका आग्रह यही है कि दो सुधार हो जाने चाहिए – पहला यह कि जगन्नाथजी के रथ में श्री पामर के लाग-हाउस फार्म में पले 'पर्चरान' नस्ल के घोड़े जोते जायँ और दूसरा यह कि हिन्दुओं के पवित्र गोवंश में जरसी नस्ल की गायों को भी सम्मिलित कर लिया जाय।" श्री पॉमर पर्चरान घोड़ों और जरसी गायों के दिली शौकीन हैं और उनके लाग-हाउस फार्म में दोनों का बाहुल्य है।

प्रथम व्याख्यान के लिए समुचित व्यवस्था नहीं हुई थी। हॉल का किराया १५० डॉलर था। मैंने होल्डेन को विदा कर दिया। एक दूसरा व्यक्ति मिल गया है; देखना है, वह उससे अच्छी व्यवस्था करता है या नहीं। श्री पॉमर मुझे दिन भर हँसाते रहते हैं। कल एक और भोज होने जा रहा है। अभी तक सब कुछ ठीक है; पर जब से यहाँ आया हूँ, न जाने क्यों, मन बड़ा शोकाकुल रहता है, कारण मुझे नहीं मालूम।

मैं व्याख्यान देते-देते और इस तरह की निरर्थक बातों से थक गया हूँ। सैकड़ों प्रकार के मानवीय पशुओं से मिलते-मिलते मेरा मन अशान्त हो गया है। मैं तुम्हें अपनी रुचि की बात बतला रहा हूँ। मैं लिख नहीं सकता, मैं बोल नहीं सकता, परन्तु मैं गम्भीर विचार कर सकता हूँ और जोश में आने पर वाणी से अग्नि-वर्षण कर सकता हूँ। परन्तु ऐसा

कुछ चुने हुए – अति अल्प लोगों के लिये ही होना चाहिये। वे यदि चाहें, तो मेरे विचारों का चारों ओर प्रचार करें – पर मैं यह नहीं कर सकता। यही श्रम का उचित विभाजन है; एक ही व्यक्ति सोचने और साथ ही अपने विचारों के प्रसार करने में कभी सफल नहीं हुआ। ऐसे विचार मूल्यहीन होते हैं। मनुष्य को विचार करने की स्वाधीनता होनी चाहिए, विशेषत: तब, जबकि वे विचार आध्यात्मिक हों।

स्वाधीनता का यह दावा अर्थात् 'मनुष्य मशीन नहीं है' – इस बात की स्वीकृति ही, चूँकि सारे आध्यात्मिक विचारों का सार है, इसीलिये ऐसे विषयों पर एक यंत्र की तरह नियमित रूप से विचार करना असम्भव है। हर चीज को यंत्र के स्तर पर लाने की यह प्रवृत्ति ही पाश्चात्यों की अद्भुत समृद्धि का कारण है और इसी ने धर्म को उनके द्वार से दूर भगा दिया है। जो थोड़ा सा बचा है, उसे भी पाश्चात्यों ने एक सुव्यवस्थित व्यायाम मात्र में परिणत कर लिया है।

वस्तुत: मैं 'तूफानी' कतई नहीं हूँ, बल्कि इसका उल्टा ही हूँ। मैं जिस वस्तु को चाहता हूँ, वह यहाँ नहीं है और मैं इस 'तूफानी' वातावरण को और अधिक काल तक सहन करने में असमर्थ हूँ। पूर्णता का मार्ग – स्वयं पूर्णता को प्राप्त होना और कुछ थोड़े-से नर-नारियों को पूर्णता प्राप्त कराना। लोकाकल्याण के विषय में अपनी स्वयं की धारणा के अनुसार मैं चाहता हूँ कि कुछ असाधारण योग्यता के मनुष्यों का विकास करूँ, न कि 'भैंस के आगे बीन बजाकर अपने समय, स्वास्थ्य और शक्ति का अपव्यय करूँ।'

अभी-अभी फ्लैग का पत्र मिला। मेरे व्याख्यान के कार्य में वह मदद नहीं कर सकता। वह कहता है, "पहले बोस्टन जाइए।" पर अब और व्याख्यान देने की मुझे परवाह नहीं। किसी व्यक्ति अथवा श्रोतृमण्डली की सनक के अनुसार मुझे परिचालित कराने का यह प्रयास बड़ा ही विरक्तिकर है।[१५]

मैं किसी भी प्रकार से बहुत चिन्तित नहीं हूँ। मैं जीवन को अपने स्वाभाविक ढंग से बड़े सहज भाव से ले रहा हूँ। कहीं भी जाने की मेरी अपनी कोई विशेष इच्छा नहीं है। भले ही बोस्टन जाना हो या न हो, इस समय तो मैं चाहे-जो-भी आ-जाय की बड़ी सुन्दर मन:स्थिति में हूँ। प्रतिकूल या अनुकूल – कुछ-न-कुछ तो होगा ही। भारत लौटने और थोड़ा-बहुत देश-भ्रमण करने के लिये मेरे पास पर्याप्त पैसे हैं। जहाँ तक कार्य विषयक योजना का सवाल है, जिस गति से यह अग्रसर हो रहा है, उससे मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि इसे किसी भी रूप में साकार करने के लिये मुझे यहाँ चार या पाँच बार आना होगा।

जहाँ तक दूसरों को ज्ञान देने और इस प्रकार उपकार करने की बात है, मैं स्वयं को यह विश्वास दिलाने में असफल रहा हूँ कि मुझे सचमुच ही दुनिया को कुछ देना है। इसलिये इस समय मैं बड़ा खुश हूँ और खूब सहज महसूस कर रहा हूँ। इस विशाल भवन में अकेले निवास करता हुआ और होठों के बीच चुरुट दबाये हुए – मेरे ऊपर जो कर्म-ज्वर आया था, उसी के विषय में स्वप्न देख रहा हूँ और चिन्तन कर रहा हूँ। यह सब कुछ बकवास है। मैं कुछ भी नहीं हूँ, यह संसार कुछ भी नहीं है, प्रभु ही एकमात्र कर्ता हैं। हम लोग बस उन्हीं के हाथों में यंत्र मात्र हैं।[१६]

१७ मार्च १८९४ : आज मैं श्रीमती बागली के यहाँ लौट आया। श्री पॉमर के यहाँ अधिक दिन रुकने की वजह से वे नाराज थीं। पॉमर के घर दिन बड़े ही आराम से कटे। वे बहुत ही मौजी और जिंदादिल आदमी हैं और उन्हें अपने सुखभोगों में और 'कड़वे स्काच' में अत्यधिक रुचि है। लेकिन वे हैं एकदम निष्कलंक और बच्चों जैसे सरल। मेरे चले आने से वे बहुत दुखी थे, लेकिन मैं विवश था।[१७]

सन्दर्भ-सूची – **❖ (क्रमशः) ❖**

१. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड ५, पृ. २०४; **२.** वही, खण्ड २, पृ. ३१७; **३.** वही, खण्ड २, पृ. ३३६; **४.** वही, खण्ड १, पृ. २८२; **५.** वही, खण्ड ७, पृ. २११; **६.** वही, खण्ड ६, पृ. ८३; **७.** वही, खण्ड ३, पृ. ११४; **८.** वही, खण्ड १, पृ. २८४; **९.** The Master as I saw Him, Sister Nivedita, १९६२, पृ.२३३; **१०.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. ३२५; **११.** वही, खण्ड ३, पृ. ३२९; **१२.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ८; **१३.** वही, खण्ड ९, पृ. १०-११; **१४.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. ३३०; **१५.** वही, खण्ड २, पृ. ३३०; **१६.** वही, खण्ड ९, पृ. १४-१५; **१७.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. ३३२
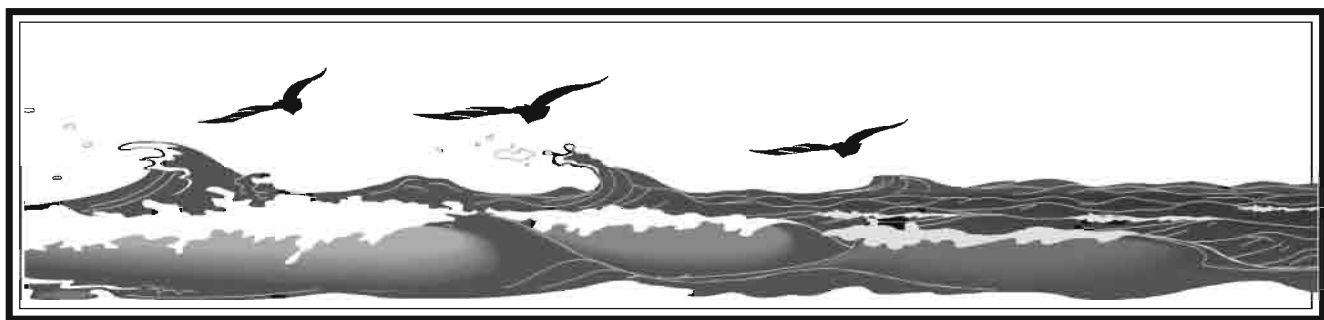
रामराज्य की भूमिका (१/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

राम राज बैठें त्रैलोका।
हरषित भए गए सब सोका।।
बयरु न कर काहू सन कोई।
राम प्रताप बिषमता खोई।। ७/२०/८

– श्री रामचन्द्र के राजा होने पर तीनों लोक हर्षित हो गए, उनके सारे शोक जाते रहे। कोई किसी से वैर नहीं करता था। श्रीराम के प्रताप से सबकी विषमता (भेदभाव) मिट गई ।।

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग ।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग ।।७/२०

– सभी अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुकूल आचरण करते हुए सदा वेदमार्ग पर चलते और सुख पाते हैं। उन्हें न किसी तरह का भय है, न शोक है, न कोई रोग ही होता है ।।

भगवान श्रीरामभद्र की अनुकम्पा से भगवान श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की जयन्ती के इस पावन सन्दर्भ में मुझे जो यहाँ उपस्थित होने का अवसर मिला है, इसमें मैं बड़े आनन्द तथा गौरव की अनुभूति करता हूँ। अनेक वर्षों से यह क्रम बना रहा है, यद्यपि इन दिनों कई बार मुझसे प्रश्न किया जाता है कि क्या प्रति वर्ष एक ही स्थान में जाना उपयुक्त है? ऐसे कथन के पीछे लोगों की यह मान्यता होती है कि वस्तु के सुलभ होने पर शायद व्यक्ति के हृदय में उतनी तीव्र लालसा नहीं रह जाती, जितनी दुर्लभता में होती है। यह भी अपने स्थान पर एक बात है। दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि प्रति वर्ष की परम्पराओं के कारण अनेक स्थानों के साथ न्याय नहीं हो पाता। जो गिने चुने स्थान हैं, उन्हीं में श्रोताओं को लाभ मिलता है, अन्यत्र श्रोता वंचित रहते हैं, अत: इस परम्परा में बदलाव किया जाना चाहिए।

इस धारणा में निहित सत्य को मैं अस्वीकार नहीं करता, पर मेरी यह निश्चित धारणा है कि रामकथा की सुलभता भले ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भिन्न लगे, पर जैसे वायु निरन्तर अत्यन्त सुलभ है, भले ही उधर हमारा ध्यान न जाता हो, पर उसके अभाव में हम जिस प्राणशक्ति के अभाव का अनुभव करते हैं, वही वायु की विलक्षणता है। फिर कुछ अन्य स्थानों को समय देने के लिए, यदि इस परम्परा में कुछ परिवर्तन करना पड़े, तो भी मैं यही चाहूँगा कि इस अवसर पर मैं आप लोगों के समक्ष उपस्थित होता रहूँ, क्योंकि यहाँ आकर अन्य स्थानों की अपेक्षा कुछ भिन्न भाव की अनुभूति होती है और श्रद्धेय स्वामीजी के स्नेह-बन्धन में मैं स्वयं को इतना बँधा हुआ पाता हूँ कि मुझे यह ध्यान ही नहीं आता कि अन्य स्थानों के लिये हमें यहाँ के क्रम में परिवर्तन करना चाहिए। मुझे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आप सबका रामकथा के प्रति स्नेह तथा आकर्षण कम नहीं हुआ है।

श्रद्धेय स्वामीजी महाराज ने इस बार 'रामराज्य' का जो प्रसंग चुना है, वह बड़ा ही व्यापक है। सच पूछिए तो इस 'रामराज्य' के सन्दर्भ में जो प्रश्न प्रस्तुत किए हैं, वे बड़े ही व्यापक महत्त्व के हैं और उनका सम्बन्ध पूरी रामकथा से जुड़ा हुआ है। प्रश्न विवादास्पद हैं और आधुनिक मनोभूमि में उन प्रश्नों का अत्यधिक महत्त्व है। मैं नहीं जानता कि इन कुछ दिनों में मैं इन प्रश्नों में से कितनों का कितना उत्तर दे सकूँगा, पर मैं इन प्रसंगों को स्पर्श करने की चेष्टा करूँगा।

प्रारम्भ में ही मैं विवादास्पद प्रश्नों की चर्चा नहीं करना चाहूँगा। यही मेरी शैली और परम्परा है। एक पद्धति तो यह है कि यदि आप कहीं मत में भिन्नता रखते हैं, तो प्रारम्भ से ही एक-दूसरे के खण्डन-मण्डन में जुट जायँ। सामनेवाले व्यक्ति की मान्यता का खण्डन करने की चेष्टा करें। दूसरी जो 'श्रीराम-चरित-मानस' की पद्धति है, वह यह है कि मतों में केवल भिन्नता ही नहीं होती, अपितु भिन्नता के साथ-साथ कहीं-न-कहीं साम्य भी होता है। ऐसी परिस्थिति में यदि हम विवाद को वितण्डा और जल्प में नहीं परिणत करना चाहते, संघर्ष का साधन नहीं बनाना चाहते, तो हम पहले उसी पक्ष को प्रस्तुत करें, जहाँ तक हम एकमत हैं। उसके बाद हम विचार करें कि हमारी मत-भिन्नता के मूल में क्या है? मत-भिन्नता की बात भी उठनी चाहिए।

रामराज्य या किसी भी प्रसंग के सन्दर्भ में कुछ बातें तो ऐसी हैं, जिसमें अधिकांश लोग एकमत हैं, पर कुछ प्रसंग ऐसे हैं जो बड़े विवादास्पद हैं। मैं दोनों ही पक्षों का स्पर्श करने की चेष्टा करूँगा। तो हम लोग विवाद से नहीं, संवाद से कथा प्रारम्भ करें, क्योंकि रामकथा की पद्धति विवाद की नहीं, संवाद की पद्धति है।

अभी जो पंक्तियाँ आपके सामने पढ़ी गयीं, उनमें गोस्वामीजी ने रामराज्य का चित्र प्रस्तुत किया है। मैंने आपके सामने दो ही पंक्तियाँ पढ़ी हैं, पर उन्होंने बारह दोहों में बड़े विस्तार से रामराज्य का स्वरूप अंकित किया है। आप जानते ही हैं कि राम-चरित-मानस में गोस्वामीजी रामराज्य की स्थापना से ही भगवान राम के चरित्र की समाप्ति करते हैं। गोस्वामीजी की दृष्टि में रामराज्य की स्थापना ही रामायण की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि रामराज्य की स्थापना के बाद फिर अन्य कुछ शेष नहीं रह जाता। अत: रामराज्य ही रामायण की समग्रता है। आधुनिक युग में भी महात्मा गाँधी ने भी जब आदर्श राज्य की परिकल्पना की तो उन्होंने रामराज्य शब्द का प्रयोग किया।

जिस रामराज्य की रामायण में इतनी सराहना की गई है, जिसकी उपलब्धि से ही गोस्वामीजी राम-चरित-मानस को समाप्त करते हैं, वह क्या है? रामराज्य को यदि व्यापक अर्थों में लें, तो इसका वैचारिक पक्ष क्या है? रामराज्य का वैचारिक पक्ष और उसका व्यावहारिक पक्ष, क्योंकि राम-चरित-मानस केवल व्यवहार का ही नहीं, अपितु भक्ति और दर्शन का भी ग्रन्थ है। उन्होंने सभी दृष्टियों से रामराज्य को देखा और सभी दृष्टियों से रामराज्य की व्याख्या की। रामराज्य का व्यावहारिक पक्ष प्रत्येक व्यक्ति को आकृष्ट किए बिना नहीं रह सकता। गोस्वामीजी जब कहते हैं कि रामराज्य में दु:ख का पूरी तरह से अभाव था और प्रजा को समस्त सुख प्राप्त था; जब वे कहते हैं कि रामराज्य में किसी का किसी से बैर नहीं था; जब वे कहते हैं कि पृथ्वी कामधेनु की तरह लोगों की आकांक्षा को पूर्ण करती थीं; रामराज्य में न तो कोई दरिद्र था, न दु:खी था, न दीन था और न अशिक्षित था; तो उसे पढ़कर किस व्यक्ति के मन में यह बात नहीं आएगी कि हमारे राष्ट्र, समाज और देश के लिये आदर्श की सर्वोत्कृष्ट कल्पना यही है और यही होना चाहिए।

गोस्वामीजी ने बारह दोहों में रामराज्य का जो चित्र प्रस्तुत किया है, उन्हें यदि सामने रखकर विचार करें, तो उत्कृष्टतम आदर्श राष्ट्र की जो कल्पना की जा सकती है, वह आपको रामराज्य में मिल जायेगी। पर इस रामराज्य के विविध पक्ष हैं। रामराज्य की स्थापना के पीछे जो समस्याएँ हैं, इसके पीछे रामायण के विविध पात्रों की भूमिका भी देखनी होगी। कानपुर में कथा के प्रसंग के रूप में जो विषय चुना गया था, वह था – 'रामराज्य की स्थापना में भरत की भूमिका'। वह एक बड़े महत्त्व का प्रसंग है और रामराज्य की स्थापना में श्रीभरत की सर्वोत्कृष्ट भूमिका तो है ही, पर यदि हम गहराई से विचार करके देखें, तो लगता है कि रामायण के जो अन्य पात्र हैं, उनकी भूमिका का महत्त्व कुछ कम है क्या? उन पर भी अलग-अलग विचार किया जाना चाहिए। मैं तो इस प्रसंग की कभी पूरी व्याख्या नहीं कर सकूँगा, क्योंकि मुझे बताना होगा कि उसमें लक्ष्मण, शत्रुघ्न, सीताजी, हनुमानजी और सुग्रीव – इन सब अन्य पात्रों की क्या भूमिका है? तो इसकी पूरी व्याख्या के लिये तो पूरे रामचरित मानस की व्याख्या की जानी चाहिए। तो भी मैं उसके कुछ पक्षों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करूँगा और इस विश्वास के साथ करूँगा कि उसमें कई पक्ष ऐसे हो सकते हैं, जो आपको रसयुक्त प्रतीत हों और कई ऐसे हो सकते हैं, जहाँ आपको रसानुभूति कम और गम्भीरता की अधिक अनुभूति हो।

उन दिनों जिस राज्य के सिंहासन पर जो राजा आसीन होता था, वह राज्य उस राजा का माना जाता था। अत: ऐसा लगता है कि राम अयोध्या के सिंहासन पर आसीन हुए इसलिए वह रामराज्य हुआ। परन्तु रामायण में रामराज्य शब्द का वस्तुत: यही तात्पर्य है क्या? यदि आप रामराज्य शब्द का यही अर्थ ग्रहण करते हैं, तो आप गोस्वामीजी के 'रामराज्य' की बात को हृदयंगम नहीं कर सकेंगे।

दो महत्त्वपूर्ण सूत्र प्रारम्भ में आपके सामने स्पष्ट कर दूँ। एक तो यह कि गोस्वामीजी जब श्रीराम का वर्णन करते हैं तो वे श्रीराम को किस दृष्टि से देखते हैं और दूसरा यह कि उनकी दृष्टि में रामराज्य से क्या तात्पर्य है। पहले आप इन दो महत्त्वपूर्ण सूत्रों को आधार के रूप में अपने मस्तिष्क में स्थापित कर लें, उसके पश्चात् ही हम श्रीराम के चरित्र, उनके आदर्श और रामराज्य के तत्त्व पर विचार कर सकेंगे।

इनमें पहला सूत्र यह है कि तुलसी के श्रीराम साक्षात् ब्रह्म हैं। बल्कि हम कह सकते हैं कि रामायण की सारी कथा का मूल प्रश्न श्रीराम के ईश्वरत्व को लेकर है। आप भलीभाँति जानते हैं कि रामायण में चार वक्ता और चार श्रोता हैं। उनमें तीन वक्ता-श्रोता संवाद करते हैं, परन्तु चौथे वक्ता तुलसीदास अपने मन को ही श्रोता बनाकर उसे कथा सुनाते हैं। आप भलीभाँति जानते हैं कि रामायण के तीनों मुख्य श्रोताओं के मन-मस्तिष्क में एक ही मूल प्रश्न है।

'मानस' की प्रथम श्रोता पार्वती हैं। उनकी जिज्ञासा क्या है? वे भगवान से पूछती हैं – हे प्रभो ! मैं आपसे पूछती हूँ कि वे राम कौन हैं? कृपया मुझे समझाकर कहिए –

रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही।
कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही।। १/४६/६

उनके मन में, मस्तिष्क में, अन्त:करण में यह जो प्रश्न है, वह इस जन्म का ही नहीं है, 'मानस' में यह बात आती है कि पार्वती पूर्वजन्म में सती थीं और उस रूप में जब उन्होंने श्रीराम को देखा, तब श्रीराम सीताजी के वियोग में विलाप कर रहे थे। विलाप करते हुए वे लता-वृक्षों से सीताजी की खोज-खबर पूछ रहे थे। भगवान शंकर ने उन्हें देखा और गद्गद हो गये। उनके मुँह से निकला – जगत्

को पावन करनेवाले सच्चिदानन्द प्रभु की जय हो –

जय सच्चिदानंद जगपावन ।
अस कहि चलेउ मनोज नसावन ।। १/५०/३

इन शब्दों के साथ भगवान शंकर ने उन्हें प्रणाम किया। यह देखकर सतीजी के मन में संशय उत्पन्न हुआ।

विविध श्रोताओं के संशय से ही रामायण का श्रीगणेश हुआ है और इस अर्थ में रामायण की बड़ी प्रासंगिकता है, क्योंकि आज का युग मुख्य रूप से संशय का युग है। जहाँ बुद्धि है, वहाँ संशय स्वाभाविक है। संशय होना बुद्धि का दोष नहीं, बल्कि यह बुद्धि का एक पक्ष है, एक गुण है।

समुद्र-मन्थन में एक संकेत दिया गया है। समुद्र में अमृत है। उसे पाने के लिए भगवान विष्णु ने समुद्र को मथने का आदेश दिया। परन्तु मन्थन की प्रक्रिया में जिन वस्तुओं को चुना गया वे बड़ी सांकेतिक हैं। पूछा गया कि इतने विशाल समुद्र को मथने के लिये मथानी किसे बनाया जाय? भगवान बोले – मन्दराचल पर्वत को मथानी बनायें। पूछा गया – मथानी को चारों ओर से लपेटने के लिये, उसे चलाने के लिए जिस रस्सी की जरूरत है, वह रस्सी क्या होगी? भगवान बोले – आप वासुकी नाग को रस्सी बनायें।

बड़ी सांकेतिक भाषा है। मन्दराचल पर्वत और वासुकी नाग क्या हैं? हमारे जीवन में भी अमृतत्व की अभिलाषा है। हम भी अमृत पाना चाहते हैं। देवता और दैत्य – सभी अमृत पाना चाहते हैं। अच्छे और बुरे, सभी विचारधारा वाले एकमत हैं कि उन्हें अमृत चाहिए। उसे रामायण के भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में – कहीं ज्ञान को अमृत के रूप में प्रस्तुत किया गया, कहीं प्रेम को अमृत के रूप में प्रस्तुत किया गया और कहीं सुख को अमृत के रूप में प्रस्तुत किया गया। पर नि:सन्देह सबका लक्ष्य अमृत की प्राप्ति ही है।

केवल दो की ओर ही मैं आपका ध्यान आकृष्ट करूँगा। यह मन्दराचल क्या है? और वासुकी नाग क्या है? गोस्वामीजी ने रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में मथानी की बात कही, तो उन्होंने मथानी के लिये एक शब्द चुना। उन्होंने कहा – मन्थन 'विचार की मथानी' के द्वारा ही किया जायगा –

मुदिताँ मथै बिचार मथानी ।। ७/११७/१५

तो इसे यों समझ लें कि मन्दराचल ही विचार है। परन्तु बड़ी अद्भुत बात है ! मन्दर के साथ अचल शब्द लगा हुआ है। अचल माने जो अडिग है, स्थिर है, जिसमें गति नहीं है। तो मन्दर स्थिर है, अचल है, इसलिए उसे मन्दराचल कहते हैं। अब बड़ी अनोखी बात है कि जब तक मन्दराचल को मथानी नहीं बनाया गया था, तब तक वह अचल था। लेकिन जब उसे मथानी बनाया जायगा, तो वह चल रहेगा या अचल? मथानी की विशेषता उसकी अचलता नहीं, बल्कि उसकी गतिशीलता है; क्योंकि मथानी जब चलेगी, तभी मन्थन की क्रिया सम्पन्न होगी। इसमें सूत्र क्या है?

विचार को स्थिर होना चाहिए या गतिशील होना चाहिए? बस, यही मूल प्रश्न है। विचार को मन्दराचल कहने का अभिप्राय यही है कि उसमें स्थिरता होनी चाहिए। परन्तु यह स्थिरता जड़ता का पर्यायवाची न बन जाय, इसलिए **गतिशीलता तथा स्थिरता – विचार में ये दोनों गुण होने चाहिए।**

एक व्यक्ति यदि कुछ मान्यताओं को ही वैचारिक सत्य मानकर उन्हीं में स्थिर हो जाय, तो वह व्यक्ति भले ही दावा करे कि उसके विचार स्थिर हैं, पर उसके विचार में गतिशीलता नहीं है। केवल गति-ही-गति हो और स्थिति न हो तो भी अधूरापन है। और स्थिति के साथ यदि गतिशीलता न हो, तो यह भी अधूरापन है। तात्पर्य यह कि हमारे जो केन्द्रीय विचार हैं, उन्हें स्थिर रखते हुए भी जीवन में विचार की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहे।

उसके साथ अब किसको जोड़ा गया? वासुकी नाग को। विचित्र चुनाव है। रस्सी बनाने के लिये क्या कोई और पदार्थ नहीं मिला? वासुकी नाग कौन है? बड़े विशाल सर्प हैं। कहा गया कि वासुकी नाग को रस्सी बनाइए। विचार की स्थिरता को गति कौन देगा? मथानी के चारों ओर लपेटकर जब रस्सी खींची जायगी, तब मथानी चलने लगेगी। तो विचार के पर्वत को गतिशील बनाने के लिये वासुकी नाग की आवश्यकता है। यह वासुकी नाग कौन है? रामायण में सर्प को संशय का प्रतीक बताया गया –

संसय सर्प ग्रसेहु मोहि ताता ।
दुखद लहर कुतर्क बहु भ्राता ।। ७/९२/६

बड़ी अद्भुत समझ में आने योग्य बात कही गयी कि **विचार मथानी है और संशय उसको गति देनेवाली रस्सी है।** बिना प्रश्न या संशय का उदय हुए विचार में गतिशीलता नहीं आयेगी, विचार में चिन्तन की प्रक्रिया गतिशील नहीं होगी। संशय और विचार परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। सर्प निरन्तर गतिशील है और पर्वत बिल्कुल अचल है। पर जब दोनों को जोड़ा जायगा, तो बड़ी अद्भुत बात होगी। सर्प गतिशील है और पर्वत अचल होते हुए भी रस्सी के प्रभाव से गतिशील हो गया। इसका सरल-सा तात्पर्य यह है कि यदि हमारे मस्तिष्क में कभी प्रश्न उदित नहीं होंगे, संशय उत्पन्न नहीं होगा, तो हमें विचार की प्रेरणा कैसे मिलेगी? संसार में जितने आविष्कार हुए हैं या चिन्तन हुआ है, उनके मूल में कोई-न-कोई प्रश्न, कोई-न-कोई संशय तो अवश्य रहा होगा। प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के विषय में कथा आती है – वृक्ष से टूटकर सेव गिरा। वह तो न जाने कब से गिरता रहा है और व्यक्ति उस सेव को उठाकर खा लेता है। सन्तुष्ट हो

जाता है। पर वैज्ञानिक इतने से सन्तुष्ट नहीं हुआ कि वृक्ष से यह फल गिर पड़ा। उसके मस्तिष्क में यह प्रश्न उठा कि यह नीचे की ओर ही क्यों गिरा? ऊपर की ओर क्यों नहीं चला गया? तब गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की खोज हुई। हमारे मन-मस्तिष्क में कुछ जिज्ञासा हो, संशय हो; ताकि हमारे स्थिर विचारों में गतिशीलता भी आये।

दूसरी ओर शास्त्रों में संशय की बड़ी निन्दा की गई है, बल्कि गीता में तो यहाँ तक कह दिया है कि – संशयात्मा का विनाश हो जाता है – **संशयात्मा विनश्यति**।

यह बिल्कुल समझ में आनेवाली बात है। यदि वासुकी नाग को रस्सी नहीं बनाया जायगा, उसे मन्दराचल से नहीं जोड़ा जायगा, तो वासुकी नाग डसेगा ही, मारेगा ही। पर यदि आप उसे रस्सी बना देंगे, तो उसकी भूमिका ही बदल जायगी। तात्पर्य यह कि **संशय यदि अकेला होगा, तो डँस लेगा। परन्तु यदि संशय और विचार का संयोग होगा, तो हमें अमृत की प्राप्ति होगी।**

वासुकी को लाया गया, तो भगवान विष्णु ने देवताओं से कहा कि तुम लोग इस वासुकी नाग के सिरहाने खड़े हो जाओ। देवता जाकर उसके सिरहाने खड़े हो गये। वासुकी नाग के दो भाग हैं – उसका मुख और उसकी पूँछ। मुख में विष होता है और पूँछ में विष नहीं होता। संशय-रूपी वासुकी नाग के भी दो छोर हैं। एक ओर विष है और दूसरी ओर विष नहीं है। दैत्यों की सबसे बड़ी दुर्बलता है अभिमान। वे लोग देवताओं के प्रत्येक कार्य को देखकर सर्वदा उसका कोई-न-कोई उल्टा अर्थ निकालते हैं। भगवान विष्णु के कहने पर जब सारे देवता जाकर सिर की ओर खड़े हो गये, तो दैत्यों ने कहा – "अच्छा, तुम लोग हमें पूँछ की ओर खड़े करना चाहते हो? अपने को ऊँची जातिवाला मानते हो और हमें नीची जातिवाला सिद्ध करना चाहते हो।"

ऊँची जाति वाले अपने को सिरहाने रखने की चेष्टा करते हैं। दैत्यों ने क्रुद्ध होकर कहा – नहीं, श्रेष्ठ तो हम लोग हैं, सिर की ओर रहेंगे; तुम लोग पूँछ की ओर जाकर खड़े हो जाओ। भगवान विष्णु ने देवताओं से कहा – ऐसा ही करो। वस्तुत: भगवान यही तो चाहते थे। बुद्धिमान मुँह की ओर नहीं, पूँछ की ओर ही रहेगा, क्योंकि जब रस्सी के रूप में सर्प है और जब उसे चलाया जायगा, तो वह अपने मुख से विष ही तो उगलेगा। मुख की ओर रहनेवाला उस विष की ज्वाला से जलेगा और पूँछ की ओर रहनेवाला उस ज्वाला से बच जायगा। देवताओं ने कहा – अवश्य! आप लोग ही तो ऊँचे हैं, आप लोग ही सिरहाने खड़े हो जाइए। हम पूँछ की ओर खड़े हो जाते हैं। बहुत बढ़िया बात है। असुरों ने भी अमृत-मन्थन में परिश्रम किया, पर जब वासुकी नाग विष उलगने लगा, तो वे अधमरे हो गये – अमृत तो उन बेचारों को अन्त तक नहीं मिला, उल्टे वे पहले ही विष से अधमरे हो गये। परन्तु देवता उस विष की ज्वाला से सुरक्षित रहे।

व्यक्ति बहुधा अभिमानी होकर संशय का आश्रय लेता है या विचार करने बैठता है। मेरे सामने कई बार ऐसी समस्या आती है। अभी धमतरी में था तो एक सज्जन आए और एक प्रश्न किया। मैंने सुना। मुझे कभी-कभी समझ में आ जाता है कि पूछनेवाला किस मन:स्थिति में है। जब उन्होंने वेदान्त के विषय में, सृष्टि के विषय में वह जिज्ञासा की, तो मैंने उनसे पूछा कि इस विषय में आपकी क्या मान्यता है? मैं समझ गया कि ये पहले से ही मान बैठे हैं कि वे इस विषय को ठीक से जान गये हैं और केवल मेरी परीक्षा लेने आए हैं कि देखें, ये इस विषय को ठीक से जानते हैं या नहीं? ऐसे अनेक लोग होते हैं; और विशेष रूप से ऐसे लोग, जिनमें अभिमान की मात्रा बहुत होती है, जब प्रश्न या संशय लेकर आते हैं, तो उत्तर भी उनके पास पहले से ही तैयार रहता है और वे वक्ता के मुँह से भी वही सुनना चाहते हैं। यह वह उत्तर दुहरा दिया जाय, तो वे कहते हैं – हाँ, ठीक है। परन्तु यदि भिन्न प्रकार से उत्तर दे दिया जाय, तब तो वे तर्क-वितर्क पर उतर आते हैं। ऐसे अवसरों पर अपने को बचाने के लिये मैं एक ही उपाय करता हूँ – उन्हीं से पूछ लेता हूँ कि इस विषय में आपका क्या मत है? जब वे बताते हैं, तो कह देता हूँ – हाँ, बिल्कुल ठीक है, इस पर और विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

आपके मन में जब पहले से ही कोई निश्चय बना हुआ है और आप केवल उसी की पुष्टि के लिए मेरे पास आए हैं, तो वह संशय न जिज्ञासा की वृत्ति है और न विचार की, वह तो मात्र अभिमान की वृत्ति है। अत: अमृत-मन्थन चाहे जिस भी क्षेत्र में चल रहा हो, इसकी प्रक्रिया में संशय और विचार का संयोग बड़ा महत्त्वपूर्ण है। विचार एवं संशय के साथ हम कहीं अभिमान से ग्रस्त होकर स्वयं को ही सर्वोच्च विचारक या अपने संशय को ही सत्य मानने की भूल न कर बैठें।

समुद्र-मन्थन से जो वस्तुएँ निकलीं; उनमें कुछ प्रिय थीं, कुछ अप्रिय; कुछ सुन्दर थीं, कुछ कुरूप; कुछ रक्षक थीं, कुछ मारक, फिर कुछ उन्माद पैदा करनेवाली भी थीं और सबसे अन्त में अमृत प्रगट हुआ। इसी प्रकार यदि हम राम-चरित-मानस की गाथा को भी समुद्र-मन्थन के रूप में देखे, तो इस प्रक्रिया से अनेक प्रश्न और अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। कहीं उसमें विष की दाहकता है, तो कहीं कुरूपता है। अलग-अलग प्रसंगों में अनेक भिन्न-भिन्न तत्त्व मिलते हैं और अन्त में रामराज्य के रूप में उसकी अन्तिम परिणति सामने आती है। राम-चरित-मानस का मूल यहीं से है।

सती के अन्त:करण में संशय उत्पन्न होता है और अपने उस रूप में उन्हें संशय का समाधान नहीं मिला। उसका मूल कारण यह था कि सती दक्ष की पुत्री है और दक्ष का अर्थ है चतुर। तात्पर्य यह कि सती को अपनी बुद्धिमत्ता का अभिमान था। वे समझती थीं कि मेरे पिता संसार में सबसे बड़े बुद्धिमान हैं, वे प्रजापति हैं। भगवान शंकर के पति के रूप में होते हुए भी यदि सती के संशय का समाधान सती के रूप में नहीं हुआ, तो उसका सूत्र वही है कि सती ने अभिमानयुक्त होकर संशय का आश्रय लिया और वह संशय उन्हें दु:ख की स्थिति में डाल देता है।

परन्तु वही सती अब पार्वती हो जाती हैं। जैसे वहाँ पर मन्दराचल पर्वत है, वैसे ही सती जब पार्वती बनती हैं, तो अब वे हिमाचल की पुत्री हैं। हिमाचल भी अचल है, वह भी एक पर्वत है और वे हिमालय पर्वत की पुत्री हैं। उन्होंने दक्ष की पुत्री सती के रूप को त्यागकर स्वयं को हिमाचल की पुत्री के रूप में परिवर्तित किया और हिमालय की पुत्री पार्वती रूप में दुबारा जन्म लेने के बाद जब वे भगवान शंकर के सामने जाती हैं, तो उन्हें प्रणाम करके कहती हैं – महाराज, अब भी मेरे मन में कुछ संशय है –

अजहूँ कछु संसउ मन मोरें ।। १/१०९/५

पार्वतीजी ने भगवान शंकर से जब प्रश्न किया तो प्रारम्भ यहीं से किया – जो सारे संसार का हित करनेवाली कथा है, उसे शैलकुमारी पूछना चाहती है –

कथा जो सकल लोक हितकारी ।
सोइ पूछन चह सैल कुमारी ।। १/१०६/६

शैलकुमारी पूछना चाहती है – कहने की क्या आवश्यकता है? पार्वतीजी ने मानो विनम्र संकेत किया कि दक्षकुमारी को तो आपने सुनाया नहीं, तो अब हिमाचल की पुत्री – शैल-कुमारी को तो सुनाइएगा? दक्षपुत्री के रूप में मैं अभिमानिनी थी, इसलिए भगवत्कथा की अधिकारिणी नहीं थी, पर अब तो मैं हिमालय की पुत्री हूँ।

इसमें एक सूत्र निहित है। जैसे गंगाजी का उद्भव का प्रसंग है – एक ओर तो भगवान के चरणों से निकलने वाली गंगा हैं, वे पहले ब्रह्मा के कमण्डलु में आईं और उसके बाद संसार में आती हैं, तो उनका प्रादुर्भाव हिमालय से होता है। हिमालय से ही – गंगोत्री से गंगा निकलती है। गंगा जब तक ब्रह्मा के कमण्डलु में थीं, तब तक वे दुर्लभ थीं और कुछ बिरले व्यक्तियों के लिए ही प्राप्तव्य थीं। जो ब्रह्मलोक तक जा सके, जिन पर ब्रह्मा की कृपा हो, वे गंगाजल का स्पर्श कर लें। पर गंगा के द्वारा पूरी तरह से लोक-कल्याण तब हुआ, जब वे ब्रह्मा के कमण्डलु से उतरकर भगवान शिव के मस्तक पर और उनके मस्तक से उतरकर – भौगोलिक अर्थों में हिमालय से निकलकर पृथ्वी पर प्रवाहित होती हैं, तभी वे लोक-कल्याण-कारिणी बनती हैं। सुलभ बन जाती हैं। यह गंगाजी का दूसरा स्वरूप है।

गंगा को हिमालय ने अपने हृदय में ही नहीं रख लिया, अपितु उनकी धारा को बाहर की ओर प्रवाहित होने दिया, ताकि गंगा का जल सबको प्राप्त हो। जैसे हिमालय यह चाहते हैं कि गंगा का जल सबको प्राप्त हो, वैसा ही मैं शैलकुमारी भी चाहती हूँ। पर्वतीजी का संकेत बड़ा मधुर था। बोलीं – "महाराज, एक गंगा तो आपके मस्तक पर है, मगर आपके पास एक गंगा और भी है। आपके मस्तकवाली गंगा तो बह रही है, परन्तु एक अन्य गंगा को आप हृदय में छिपाये हुए हैं। तो कमण्डलु की उस गंगा को भी जरा निकाल कर शैलपुत्री के माध्यम से प्रगट कर दीजिए।"

शंकरजी के हृदय में कौन-सी गंगा है? भगवान विष्णु के चरणों से निकलने वाली गंगा सिर पर है और रामकथा की गंगा उनके हृदय में है। परन्तु ब्रह्मा के कमण्डलु की ही तरह उसका भी प्रवाह बन्द है। शंकरजी ने 'मानस' की रचना अपने हृदय में की और रामकथा-गंगा के दिव्य रूप को उन्होंने अपने अन्त:करण में स्थापित कर दिया –

रचि महेस निज मानस राखा ।। १/३५/११

शैलपुत्री का अभिप्राय यह था कि जैसे आपने उस गंगा को व्यक्त किया, वैसे ही इस गंगा को भी प्रगट करें। साथ ही पार्वतीजी ने थोड़ा क्षमा-याचना भी कर लिया। बोलीं – महाराज, अब भी मेरे मन में कुछ संशय बचा है –

अजहूँ कछु संसउ मन मोरें ।। १/१०९/५

शंकरजी ने मुस्कुराकर देखा। संशय से इतना कष्ट पाने के बाद अब भी बचा हुआ है। बल्कि व्यंग्य कर दिया। बोले – व्यक्ति के मर जाने पर छाया मिट जाती है, पर तुम्हारी छाया अब भी बनी हुई है। पार्वतीजी ने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया – महाराज, संशय तो है, पर उसमें एक अन्तर है। अब पहले जैसा विमोह नहीं है। इस संशय के पीछे पहले जैसे सघन मोह की वृत्ति भी नहीं है। – तो क्या है। बोली – अब मेरे अन्त:करण में श्रीराम की कथा सुनने की इच्छा है –

तब कर अस बिमोह अब नाहीं ।
रामकथा पर रुचि मन माहीं ।। १/१०९/७

संशय और जिज्ञासा के बिना कैसे कथा सुनने को मिलेगा, इसलिए मैंने ऐसा प्रश्न किया। शंकरजी बोले – मैं तुम्हारे प्रश्न से बड़ा प्रसन्न हूँ। संशय तो बड़ा घातक है, उसने तुम्हें बड़ा कष्ट दिया है, पर मैं जानता हूँ कि तुम्हारे प्रश्न का उद्देश्य यह है कि तुम लोक-कल्याण हेतु रामकथा की गंगा को प्रवाहित करना चाहती हो –

पूछेउ रघुपति कथा प्रसंगा ।
सकल लोक जग पावनि गंगा ।। १/११/७

इस सन्दर्भ में यह मानो संशय का सदुपयोग है। संशय जब अहंकार से जुड़ता है, तब तक वह केवल संशय रह जाता है, परन्तु संशय के साथ जब विचार की वृत्ति जुड़ती है, तब उसका नाम जिज्ञासा हो जाता है। दोनों में मूल अन्तर यही है। जिज्ञासु पार्वती का यही संशय और यही प्रश्न था – मैं समझ नहीं पाती कि श्रीराम यदि साक्षात् ईश्वर हैं तो पत्नी के वियोग में रोते क्यों हैं? आप कृपा करके बताइए कि श्रीराम एक राजकुमार हैं या ईश्वर हैं?

जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि
नारि बिरहँ मति भोरि ।। १/१०८

रामायण का मूल संशय और इसके प्रथम श्रोता-वक्ता के संवाद का मूल प्रश्न यह है कि राम व्यक्ति हैं या ईश्वर?

इसके दूसरे श्रोता गरुड़ के मन में भी यही संशय है। नारद ने जाकर उनसे कहा कि राम नागपाश में बँध गये हैं, तुम जाकर उनको मुक्त करो। राम को तो उन्होंने नागपाश से छुड़ा दिया, परन्तु स्वयं नागपाश में बँध गये। विचित्र व्यंग्य है! भगवान की लीला में उन्होंने भूमिका तो ठीक की, पर जब कागभुशुण्डि के पास दौड़े हुए आए, तो उन्होंने पूछ दिया – क्या हो गया? आप इतने घबराये हुए क्यों है? बोले – महाराज, मुझे तो साँप ने काट लिया। मैं गया था, श्रीराम को सर्पों से छुड़ाने, पर सर्प ने मुझे ही काट लिया। – किस सर्प ने काट लिया? उन्होंने कहा –

संसय सर्प ग्रसेहु मोहि ताता ।
दुखद लहर कुतर्क बहु ब्राता ।। ७/९२/६

तो उनका भी मूल संशय यही है कि जो नागपास में बँध जाता है, वह ईश्वर कैसे हो सकता है? जिन राम का नाम जपकर मनुष्य संसार के बंधन से छूट जाते हैं, उन्हीं को एक तुच्छ राक्षस ने नागपाश में बाँध लिया है –

भव बंधन ते छूटहिं नर जपि जा कर नाम ।
खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम ।। ७/५८

तीसरे श्रोता भरद्वाजजी भी यही संशय महर्षि याज्ञवल्क्य के समक्ष बड़ी व्यंग्यात्मक भाषा में रामायण को तीन चौपाइयों में ही सामाप्त कर देते हैं। वे बोले – एक राम का चरित्र तो जगत् में प्रसिद्ध ही है, जो अयोध्या के राजा के पुत्र थे, जिनकी पत्नी को रावण ने छीन लिया था, जिन्होंने क्रोध में आकर रावण को मार डाला। क्या यही वे राम हैं, जिनके नाम का शंकरजी जप करते हैं कि वे राम कोई और हैं?

एक राम अवधेस कुमारा ।
तिन्ह कर चरित बिदित संसारा ।।
नारि बिरहँ दुखु लहेउ अपारा ।
भयउ रोषु रन रावनु मारा ।। १/४५/७-८
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ
जाहि जपत त्रिपुरारि ।। १/४६

रामायण का मूल आधार यह है कि इसके तीनों वक्ता यह एक ही उत्तर देते हैं – श्रीराम ईश्वर हैं। मैंने यह बात इतने विस्तार से क्यों उठाई, इसका कारण स्पष्ट कर दूँ। पहले तो आप यह निश्चय कर लीजिये कि तुलसीदास के राम को समझने के लिये आप तुलसीदास की आँखों का प्रयोग करेंगे या अपनी आँखों का? यदि आप अपनी आँखों का प्रयोग करते हैं और आपकी दृष्टि में राम एक राजकुमार हैं, तब तो आप लोगों के मन में यदि कोई प्रश्न है, तो उसका उत्तर मिल गया कि व्यक्ति तो गुण और दोष से युक्त होता ही है। राम यदि एक राजकुमार थे, एक व्यक्ति मात्र थे, तो ऐसी स्थिति में सारी सृष्टि गुण-दोषमयी है, अत: आप यही मानकर सन्तोष कर लीजिए कि राम में भी बहुत-से गुणों के साथ ही बहुत-से दोष भी थे।

ऐसा माननेवाले भी बहुत हैं। मुझे इस पर कोई आपत्ति नहीं है, पर मैं एक बात कह दिया करता हूँ। मुझसे कई बार कुछ सज्जनों ने कहा है कि लगता है आपको अन्य ग्रन्थों का भी अध्ययन है, परन्तु आप रामायण की ही कथा क्यों कहते हैं? मैंने यही कहा – भाई, मैं तो रामायण का सरकारी वकील हूँ। मेरा काम तो निश्चित ही है कि मैं तो उसी पक्ष को लेकर चलूँगा, इसलिए मैं वहीं पर स्थिर रहा करता हूँ।

मेरा तो यह कहना है कि श्रीराम को देखने के लिए तुलसीदास की दृष्टि चाहिये। श्रीराम वन में जा रहे हैं और गाँव की स्त्रियाँ श्रीराम को देख रही हैं। एक स्त्री उन्हें देखकर भावरस में बिल्कुल डूब गई। उसे रोमांच हो आया। उसकी आँखों में आँसू आ गये। वह गद्गद हो गई। अन्य स्त्रियों को भी दर्शन में आनन्द तो आ रहा था, लेकिन वह स्थिति नहीं थी। किसी स्त्री ने उस गाँव की स्त्री से पूछ दिया – राम को तुम भी देख रही हो और मैं भी देख रही हूँ, पर अन्तर क्या है? क्या कारण है कि तुम्हें जैसे आनन्द की अनुभूति हो रही है, वैसी मुझे नहीं हो रही है?

इस पर उस स्त्री ने जो उत्तर दिया, उसे गोस्वामीजी ने गीतावली-रामायण में लिखा है। वही उत्तर मैं आपसे भी कह दूँगा, वही दुहरा दूँगा। गाँव की उस स्त्री ने कहा था – देखो, तुमने अभी राम को केवल अपनी आँखों से देखा है और उसमें भी आनन्द है, लेकिन अगर तुम लोग यथार्थ रूप से देखना चाहती हो, तो एक काम करो। – क्या करें? – पहले मेरी आँखें उधार ले लो, मेरी आँखों से इन्हें देखो –

बिलोकहु री सखि मोहि सी ह्वै ।। कविता. २/१८

दोनों में ही आनन्द है। अपनी आँखों से देखने का भी एक आनन्द है। आप देखने में स्वतंत्र हैं और देखते ही हैं। परन्तु यदि आप तुलसी की आँखों से देखना चाहते हैं, तो वे यही कहेंगे – पहले मेरी दृष्टि से, मेरी वृत्ति से एकात्मकता प्राप्त कर लो, फिर श्रीराम को देखो। ❖ **(क्रमश:)** ❖

दया के मिसाल

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

बचपन में दया की अनेकों कहानियाँ पढ़ी हैं। उस समय ये कथाएँ मन पर भारी प्रभाव डालती थीं। राजा शिबि की दया का उदाहरण तो माँ के दूध के साथ मिला था कि कैसे वे एक सामान्य कबूतर को बचाने के लिए अपने समूचे शरीर का मांस ही बाज को देने तैयार हो गये थे। कैसे दधीचि ने देवताओं पर दया करते हुए अपनी हड्डियाँ देने के उद्देश्य से अपने जीवन की ही आहुति दे दी थी। ये कथाएँ केवल बाल-मन का रंजन ही नहीं करता थीं, बल्कि उसमें आदर्शवादिता भी भरती थीं।

जैसे-जैसे वय बढ़ने लगी, ऐसी कथाओं के इतिहास पर संशय होने लगा। मन में प्रश्न उठने लगे कि क्या किसी व्यक्ति में दया की इतनी मात्रा हो सकती है कि दूसरे के प्राणों की रक्षा में अपने प्राणों का होम कर दे? मन के किसी कोने से आवाज उठती कि क्या आज भी सैनिक अपने देशवासियों के प्राणों की रक्षा के लिए अपने प्राण होम नहीं कर देते? बुद्धि इसका उत्तर देती कि सैनिक अपने कर्तव्य से बँधा रहता है, उसके सामने चुनाव का कोई प्रश्न नहीं रहता; जबकि शिबि या दधीचि किसी कर्तव्य से बँधे नहीं थे। वे कपोत या देवताओं के अनुरोध को अस्वीकार करने में स्वतंत्र थे। परन्तु फिर भी वैसा न कर वे अपने प्राण देने हेतु तैयार हो गये – यह दया की अद्वितीय मिसाल है। फिर संशय उठता कि क्या यह मिसाल वास्तविक है अथवा महज पुराण-कथा है? मन जब संशय के दोलन में झूल रहा था, तब दो उदाहरण ऐसे पढ़ने को मिले, जिसने मेरा नजरिया ही बदल दिया।

पहला था अब्राहम लिंकन का, जो गणतंत्रनिष्ठ अमेरिका के पहले राष्ट्रपति थे। वे एक जरूरी बैठक में भाग लेने स्वयं अपनी गाड़ी चलाकर जा रहे थे। अचानक उन्होंने एक आर्तनाद सुना। देखा कि शूकर का एक बच्चा बाजू के दलदल में फँस गया है और निकलने के लिए जितना छटपटा रहा है, उतना ही दलदल में धँसता जा रहा है। उन्होंने गाड़ी रोकी, आस्तीन चढ़ायी, पैंट को नीचे से मोड़ा और उस शूकर-शावक को बचाने दलदल में घुस पड़े। दलदल भयानक थी, उनके अपने धँस जाने का भय था, पर उन्होंने अपने प्राणों की परवाह न करके, शूकर के बच्चे को दलदल से निकालकर किनारे पर रख दिया। उनके सारे कपड़े कीचड़ से लथपथ हो गये। यदि कपड़े बदलने जाते, तो बैठक में देर हो जाती, अतएव वैसे ही बैठक में पहुँचे। उन्हें उस दशा में देख लोगों को डर हुआ कि कहीं कोई दुर्घटना तो नहीं घट गयी। लिंकन ने सारी घटना संक्षेप में बतायी। लोग दाद देने लगे कि आप कितने दयालु हैं, आदि आदि। लिंकन ने कहा कि मैंने कोई दयावश यह कार्य नहीं किया। उस शूकर के बच्चे की दुरवस्था देख मुझे पीड़ा होने लगी और सच पूछो तो मैंने अपनी उस पीड़ा को दूर करने के लिए ही ऐसा किया, उसमें दया की कोई बात नहीं थी।

दूसरा उदाहरण महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त एकनाथ का है। पैठण से हरिद्वार जाकर उनके साथियों का दल काँवर पर गंगाजल लेकर रामेश्वर जा रहा था। विजयवाड़ा का चतुर्दिक क्षेत्र तीन वर्षों से अनावृष्टि से पीड़ित था। जल ले जाने वाले काफिले ने रास्ते में कई पशुओं को जलाभाव में मृत देखा। एक गदहा भी छटपटा रहा था। एकनाथ से न रहा गया। वे अपना जल का पात्र ले गदहे के पास आये और धीरे-धीरे सारा जल गदहे के मुँह में ढाल दिया। गदहे को चैतन्य हुआ और वह उठकर एक ओर चला गया। एकनाथ को बड़ी प्रसन्नता हुई। मित्रों ने कहा, "एकनाथ, तुमने तो सारा जल ही गदहे को पिला दिया, अब किससे भगवान रामेश्वर शिव का अभिषेक करोगे?" – "क्यों?" एकनाथ ने भोलेपन से पूछा, "क्या तुम लोग अपने पास का जल नहीं दोगे?" "सो तो देंगे, एकनाथ" – मित्र बोले, "परन्तु पुण्य तो हरिद्वार से स्वयं अपने द्वारा लाये जल से अभिषेक करने में ही विशेष होता है।"

"क्या करूँ", एकनाथ लाचारी के स्वर में बोले, "मैं भी तो तुम लोगों के साथ ही चला जा रहा था। जब मेरी दृष्टि उस मुमूर्षु गदहे पर पड़ी, तो मैंने देखा – सहसा भगवान रामेश्वर शिव उसकी देह में से प्रकट हो गये और मुझसे शिकायत के स्वर में कहने लगे, 'अरे, मैं यहाँ प्यास के मारे छटपटा कर मर रहा हूँ और तुम मुझे नहलाने जल लेकर रामेश्वर जा रहे हो !' तब भला मैं क्या करता, सारा जल ही मैंने उस गदहे को पिला दिया !"

यह दया की दूसरी मिसाल है। दया पर लम्बे-लम्बे भाषणों और विवेचनों की अपेक्षा इन दो घटनाओं ने मुझे दया के विषय में अधिक जानकारी दी तथा एक अभिनव दृष्टि प्रदान की। ❑❑❑

ताल में भंग न जाय

संकलित

एक राजा ने अपने खजाने में बहुत-सा धन एकत्र कर लिया था। वह बड़ा ही कंजूस था और धन को खर्च करने के सुख से अपरिचित था। वह अपने पुत्र को भी धन खर्च करने से मना करता और धन बचाने के लिये ही अपनी युवावस्था को प्राप्त पुत्री का विवाह भी टालता जा रहा था।

एक दिन एक नटिनी राज्यसभा में अपना नाटक दिखाने आयी और राजा से अपनी कला के प्रदर्शन की अनुमति की याचना की। राजा ने कहा – किसी दिन तुम्हारे नाटक का आयोजन किया जायेगा। नटिनी उसी नगर में रहने लगी। कुछ दिन बीत जाने पर एक दिन उसने फिर राजा को याद दिलाया। राजा ने उससे कहा – अभी ठहर जाओ, बाद में होगा। इसी प्रकार वह जब-जब राजा को याद दिलाने जाती, तब-तब राजा कोई-न-कोई बहाना बनाकर टाल देता। इसी प्रकार जब नटिनी को प्रतीक्षा करते हुए बहुत दिन हो गये, तो एक दिन उसने महामंत्री से कहा – आप लोग जल्दी कोई निर्णय लीजिये। या तो राजा साहब शीघ्र हमारी कलाकारी देख ले, नहीं तो हमें स्पष्ट जवाब दे दें ताकि हम अन्यत्र कहीं जाकर अपनी आजीविका ढूँढ़ें।

मंत्री ने राजा को सलाह दी – आप आज रात ही नटिनी का खेल देख लीजिये। आपको कुछ खर्च नहीं करना पड़ेगा, हम लोग आपस में चन्दा लगाकर उसकी कुछ व्यवस्था कर देंगे। इतने दिन इन्तजार करने के बाद यदि वह खाली हाथ लौट गयी, तो अपनी बड़ी बदनामी होगी।

राजा ने कहा – ठीक है, तो फिर आज रात ही उसके तमाशे का प्रबन्ध किया जाय। सभा की घोषणा कर दी गयी और रात के समय सभी दरबारी आकर उपस्थित हुए। कार्यक्रम रात भर चलता रहा। नटिनी ने तरह-तरह के करतब दिखाये। जब रात थोड़ी-सी ही रह गयी, परन्तु तब तक राजा ने कोई इनाम नहीं दिया, तब नटिनी ने अपने नट को यह दोहा बोलकर संकेत दिया –

रात घड़ी भर रह गयी, थाके पिंजर आय।
कह नटिनी सुन मालदेव, मधुरा ताल बजाय।।

इसके उत्तर में नट ने नटिनी को दूसरा दोहा सुनाया –

बहुत गयी थोड़ी रही, थोड़ी भी अब जाय।
कहे नटी सुन नायका, ताल में भंग न जाय।।

नट के द्वारा उच्चरित इस दोहे का बड़ा ही अद्‌भुत फल हुआ। खेल देखने के लिये आये हुए एक तपस्वी ने अपना ओढ़ने का कम्बल ही नट को दे दिया, राजकुमार ने अपने जड़ाऊ कड़ों की जोड़ी निकालकर उसे दे दी और राजकन्या ने अपने गले से हीरों का हार उतारकर नटिनी को दे दिया।

राजा को यह सब देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसने तपस्वी से पूछा, ''आपके पास तो और कुछ भी नहीं, बस एक कम्बल मात्र ही था, उसे भी आपने इसे क्या सोचकर दे डाला?'' तपस्वी बोला, ''आपके धन-ऐश्वर्य को देखकर मेरे मन में भी इसी प्रकार के भोगों को प्राप्त करने की वासना उठी थी, परन्तु नट के इस दोहे को सुनकर मेरे मन में आया कि मेरी अधिकांश आयु तो तपस्या में ही बीत गयी; बस, थोड़ी-सी ही तो बाकी रह गयी है, अब इसे भोगों की वासना में क्यों नष्ट किया जाय! इसके उपदेश से ही मुझे ऐसा बोध हुआ, इसीलिये अपना इकलौता कम्बल मैंने इसे दे दिया।''

राजा ने अपने पुत्र से पूछा, ''तुमने क्या सोचकर अपने कीमती कड़ों की जोड़ी नट को दे दी?''

राजकुमार बोला, ''आप मुझे खर्च करने के लिये कुछ भी धन नहीं देते, इसलिये मैंने दुखी होकर निश्चय किया था कि आपको जहर देकर मार डालूँगा। परन्तु नट के इस दोहे को सुनकर मेरे मन में आया कि राजा वृद्ध हो चले हैं, उनकी बहुत-सी आयु तो जा चुकी है, थोड़ी ही बची है, अतः पितृ-हत्या का पाप मत करो, थोड़ा और प्रतीक्षा कर लो। इसीलिये मैंने अपने कड़े निकालकर नट को दे दिये।''

अब राजा ने अपनी पुत्री से पूछा, ''तुमने क्या सोचकर अपना हीरों का हार नटिनी को दे दिया?''

राजकुमारी बोली, ''मैं काफी समय से विवाह के योग्य हो चुकी हूँ, परन्तु आप खर्च के भय से मेरा विवाह टालते जा रहे हैं। मैंने सोच लिया था कि मंत्री के लड़के के साथ निकल जाऊँगी, परन्तु नट के दोहे को सुनकर मैंने विचार किया कि राजा की अधिकांश आयु तो बीत चुकी है, थोड़ी ही बची है, अतः क्यों ऐसा करके पिता को कलंक लगाऊँ। इसीलिये मैंने नटिनी को यह उपहार दिया है। पिताजी, इनके दोहों ने ही आपकी जान तथा इज्जत बचायी है, इसलिये आपको भी इन्हें कुछ इनाम देना चाहिये।''

राजा को भी यह बात जँच गयी, अतः उसने नट-नटिनी को बहुत-सा धन-धान्य देकर विदा किया। इसके बाद राजा ने यथाशीघ्र अपनी पुत्री की शादी कर दी और पुत्र को राज्य देकर वानप्रस्थ लेकर वन में आत्मविचार करने चला गया।

यह कथा धैर्य की महत्ता दिखाती है।

वेद-शिष्य उत्तंक

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी के कुछ संस्मरणों तथा चार पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा' तथा 'काठियावाड़ की कथाएँ' का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। प्रथम तीन का नागपुर मठ से ग्रन्थाकार प्रकाशन भी हो चुका है। १९३७ ई. में उन्होंने महाभारत की कुछ कथाओं का बँगला में पुनर्लेखन किया था। जिसकी पाण्डुलिपि हमें श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई हैं। उन्हीं रोचक तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

आचार्य धौम्य के आदेश पर वेद घर लौट गये और विवाह करके गृहस्थ हो गये। विद्यादान सर्वश्रेष्ठ दान है, इसीलिये वे भी विद्यार्थियों को शिक्षा देने लगे। उन्होंने स्वयं गुरु के घर में बड़े कष्टपूर्वक रहकर खूब परिश्रम करके विद्या अर्जित की थी। परन्तु वे अपने शिष्यों को वैसा कष्ट नहीं देते थे। यथासम्भव वे छात्रों से अपना स्वयं का कोई कार्य या सेवा नहीं कराते थे।

एक बार राजा जनमेजय के यहाँ किसी यज्ञ के आयोजन के समय उन्हें कुछ दिनों के लिये अपना आश्रम छोड़कर वहाँ जाना पड़ा था, क्योंकि वे ही जनमेजय के पुरोहित थे। कोई भी यज्ञ या अनुष्ठान योग्य पुरोहित के बिना यथाविधि सम्पन्न नहीं होता। इसीलिये जनमेजय ने आचार्य वेद को बुला भेजा था। वेद ने वहाँ से प्रस्थान करते समय अपने विद्यार्थी उत्तंक को आश्रम का उत्तरदायित्व सौंप दिया था और कहा था – "मेरी अनुपस्थिति में मेरी घर-गृहस्थी में किसी वस्तु का अभाव नहीं होना चाहिये। कोई भी आवश्यक कार्य टाला न जाय। किसी भी धर्म-कार्य में विघ्न न आने पाये।"

उत्तंक ने उनका आदेश शिरोधार्य किया और श्रद्धा तथा शुद्ध बुद्धि के साथ सभी कार्य सम्पन्न करने लगे।

एक दिन उनकी गुरुपत्नी ने उनसे कोई ऐसा कार्य करने का आदेश दिया, जो उन्हें धर्म तथा शास्त्र के विरुद्ध और अनुचित लगा। उत्तंक की दृष्टि के समक्ष उस कार्य का अधार्मिक स्वरूप छिपा न रह सका। उन्होंने गुरुपत्नी को प्रणाम करके कहा, "गुरुदेव मुझे अधर्म या अनुचित कार्य करने का आदेश नहीं दे गये हैं। क्षमा कीजिये, मैं आपका आदेश पालन करने में असमर्थ हूँ।"

कुछ दिनों बाद आचार्य वेद यज्ञकार्य सम्पन्न करके वापस लौट आये। आते ही उन्होंने उत्तंक की सद्बुद्धि तथा कर्तव्य-परायणता की सारी बातें सुनीं और यह देखकर बड़े प्रसन्न हुए कि उत्तंक ने उनकी अनुपस्थिति में उनकी गृहस्थी का सारा कार्य उनकी इच्छा तथा आदेश के अनुसार ही सम्पन्न किया या कराया है। वे बोले, "वत्स उत्तंक, मैं तुम्हारे चरित्र, कर्तव्य-बोध, धर्म-परायणता आदि सद्गुण देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारी सारी मनोकामनाएँ पूर्ण हों। मैं तुम्हारी सेवा-सुश्रुषा से बहुत प्रसन्न हूँ। बोलो, मैं तुम्हारे लिये और क्या कर सकता हूँ?"

उत्तंक – "भगवन्, मैं आपको गुरुदक्षिणा देना चाहता हूँ। क्योंकि मैंने सुना है कि जो गुरु दक्षिणा लिये बिना ही शिक्षा देते हैं और जो शिष्य दक्षिणा दिये बिना ही शिक्षा प्राप्त करता है, उन दोनों में से किसी एक की मृत्यु होती है या दोनों के बीच विद्वेष उत्पन्न हो जाता है, अत: आप मुझे आदेश करें कि मैं दक्षिणा के रूप में क्या लाऊँ?"

इस पर आचार्य वेद बोले, "ऐसी बात है, तो फिर तुम कुछ दिन और आश्रम में ही रहो। दक्षिणा के विषय में मैं सोच-विचारकर बताऊँगा।"

कुछ दिनों बाद उत्तंक ने फिर गुरुदेव को प्रणाम करके निवेदन किया, "भगवन्, दक्षिणा देने की मेरी इच्छा बड़ी प्रबल हो रही है। कृपया आदेश करें कि मैं दक्षिणा के रूप में क्या लाऊँ?"

इस पर आचार्य वेद बोले, "यदि तुम्हारा इतना ही आग्रह है, तो जाकर अपनी गुरुपत्नी से पूछ लो – वे जो कुछ भी कहें, वही ला दो।"

उत्तंक ने गुरुपत्नी के पास जाकर उन्हें प्रणाम किया और उन्हें आचार्य का आदेश बताते हुए बोले, "माँ, गुरुदेव ने मुझे घर लौटने की अनुमति दी है। अब मैं आपकी इच्छानुसार दक्षिणा देकर जाना चाहता हूँ। आज्ञा दीजिये कि दक्षिणा के रूप में क्या ले आऊँ?"

गुरुपत्नी ने कहा, "वत्स, मैंने पौष्य राजा की रानी के कानों में दो सुन्दर कुण्डल देखे हैं। वही मुझे ला दो। चार दिनों बाद मैं एक व्रत का समापन करने वाली हूँ। उस दिन अपने कानों में वे ही कुण्डल पहनकर सबको भोजन परोसने की इच्छा है। उन्हीं कुण्डलों को ला देने से तुम्हारा कल्याण होगा, मैं तुम्हें खूब आशीर्वाद दूँगी; अन्यथा तुम्हारे लिये श्रेय की प्राप्ति कठिन होगी।"

उत्तंक ने उन्हें प्रणाम करके विदा ली और गुरुजी को इस बात की सूचना देकर उन कुण्डलों को लाने चल दिया।

रास्ता चलते-चलते उसने एक विशाल बैल और उस पर एक हट्टे-कट्टे आदमी को बैठे देखा। उस व्यक्ति ने उत्तंक से कहा, "हे उत्तंक, तुम थोड़ा-सा इस बैल का गोबर खा लो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा।"

उत्तंक राजी नहीं हुआ, परन्तु उस व्यक्ति ने फिर कहा, "उत्तंक, तुम घृणा छोड़कर इस बैल का गोबर खाओ। तुम्हारे गुरु ने भी इसे खाया था। इससे उनका कल्याण ही हुआ था।"

इस पर उत्तंक ने चुपचाप थोड़ा-सा गोबर खा लिया और खड़े-खड़े ही आचमन करके चल दिया।

जब उत्तंक पौष्य के राज्य में पहुँचा, तो राजा सभा में ही बैठे हुए थे। उत्तंक ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा, "महाराज, मैं आपके सामने याचक होकर आया हूँ।"

राजा पौष्य ने उन्हें प्रणाम करके कहा, "बोलिये, यह दास आपके लिये क्या कर सकता है?

उत्तंक – "महाराज, आपकी महारानी के कानों में जो कुण्डल है, वही मुझे प्रदान कीजिये। मैं उसे गुरुदक्षिणा के रूप में देना चाहता हूँ।"

पौष्य – "महाशय, वे कुण्डल तो महारानी की सम्पत्ति हैं, अत: आप अन्त:पुर में जाकर उन्हीं से माँग लीजिये।"

राजा की अनुमति पाकर उत्तंक अन्त:पुर के रनिवास में जा पहुँचे। परन्तु रानी वहाँ उन्हें दिखायी नहीं पड़ीं। वे लौट कर राजा से बोले, "महाराज, आपके लिये मेरे साथ ऐसा झूठा आचरण करना शोभा नहीं देता। रनिवास में बहुत ढूढ़ने पर भी मैं रानी को कहीं देख नहीं सका। वे तो वहाँ हैं ही नहीं, परन्तु आपने मुझसे कहा कि रानी अन्त:पुर में हैं।"

पौष्य ने थोड़ा-सा विचार करने के बाद कहा, "महाशय, थोड़ा याद करके देखिये, कहीं आप अशुचि अवस्था में तो नहीं हैं! रानी अत्यन्त पतिव्रता हैं, अत: अशुचि तथा अपवित्र व्यक्ति उन्हें नहीं देख सकता।"

तब उत्तंक को याद आया कि बैल का गोबर खाने के बाद वह जल्दबाजी में खड़े-खड़े आचमन करके ही चला आया था। यह बात राजा को सूचित करने पर वे बोले, "इस दोष के कारण ही आप रानी को नहीं देख सके। खड़े-खड़े या चलते हुए आचमन करना, न करने के ही समान है।"

अपनी भूल को समझकर उत्तंक ने अपने हाथ, पाँव तथा मुख को ठीक से धोया और पूर्व की ओर मुख करके शान्त तथा स्वच्छ शीतल जल लेकर हृदय तक तीन बार आचमन किया। इसके बाद अन्त:पुर में जाने पर उन्हें महारानी का दर्शन हुआ। वे इन्हें देखकर खड़ी हो गयीं और प्रणाम करके स्वागत करते हुए बोलीं, "भगवन्, इस दासी से आप क्या चाहते हैं? आज्ञा दीजिये।"

उत्तंक – "भिक्षा में आपके वे दोनों कुण्डल माँगने आया हूँ। मैं उन्हें गुरुदक्षिणा में देना चाहता हूँ। मुझे वे कुण्डल देकर मुझे मेरे गुरुदेव के ऋण से मुक्त कर दीजिये।"

उत्तंक की गुरुभक्ति देखकर रानी बड़ी प्रसन्न हुईं और उसे सत्पात्र समझकर तत्काल कुण्डलों को अपने कानों से निकालकर उससे बोलीं, "इन्हें सावधानीपूर्वक ले जाइयेगा, क्योंकि नागराज तक्षक का इन कुण्डलों पर बड़ा लोभ है।"

उत्तंक ने कहा, "आप इसकी चिन्ता मत कीजिये; तक्षक में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि मुझसे कुण्डल ले सके।"

कुण्डलों को लेकर उत्तंक राजा के पास गया और उनसे बोला, "मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। अब मैं आपसे विदा माँगता हूँ, ताकि यथाशीघ्र गुरुदेव के पास जाकर उन्हें दक्षिणा सौंपकर ऋणमुक्त हो सकूँ।"

पौष्य – "भगवन्, सर्वदा आपके जैसे सुपात्र नहीं मिलते। आपके समान गुणवान अतिथि दुर्लभ है। इसीलिये मैं आपका आतिथ्य-सत्कार करना चाहता हूँ। बताइये, आप कितना समय दे सकते हैं?"

उत्तंक – "अभी तैयार हूँ। भोजन मँगवाइये।"

अनुमति पाकर राजा ने खाने की अच्छी-अच्छी चीजें मँगवाकर उनके सामने रख दीं। परन्तु सारे खाद्य-पदार्थ ठण्डे हो चुके थे और उसमें सिर का एक बाल भी पड़ा हुआ था, अत: वह अतिथि को खिलाने के योग्य न था। उसे देखकर उत्तंक को क्रोध आ गया। वह बोला, "आपने मुझे दूषित अन्न खाने को दिया है, अत: आप अन्धे हो जायेंगे।"

पौष्य यह अभिशाप सुनकर विस्मित रह गये। उन्हें भी क्रोध आ गया और वे बोले, "आपने पवित्र अन्न को दूषित कहा है, इसलिये आपके कुल का लोप हो जायगा।"

इस पर पौष्य ने ध्यान से देखा, तो अन्न सचमुच ही दूषित था – उसमें बाल पड़ा हुआ था और वह बासी भी हो चुका था। अपना ही दोष जानकर उन्हें पश्चात्ताप हुआ, क्योंकि अन्न परोसे जाने के पूर्व उसे देख लेना उचित था कि वह शुद्ध है या नहीं, उसमें कोई बाल या तिनका तो नहीं पड़ा हुआ है! परन्तु उन्होंने अपने इस कर्तव्य का पालन नहीं किया था। वे रसोइये पर ही सारा उत्तरदायित्व छोड़कर निश्चिन्त थे और उसे शायद अपने इस कार्यभार की गरिमा की जानकारी नहीं थी, या फिर हो सकता है कि जानकर भी उसने लापरवाही दिखायी हो। जो भी हो, इसका फल भयंकर हुआ था। भूल की सजा तो भोगनी ही पड़ती है। इसीलिये राजा को शाप मिला – आप अन्धे हो जायेंगे।

राजा को अपने दोष का बोध होते ही उन्होंने उत्तंक से क्षमा-प्रार्थना करते हुए कहा, "मैंने अनजाने में अशुद्ध अन्न मँगवाया है, इसके लिये क्षमा कीजिये। अब आप प्रसन्न हो जाइये और कृपा करके बताइये कि मैं अन्धा होने से कैसे बच सकता हूँ?"

उत्तंक – "देखिये, मेरा वाक्य गलत नहीं हो सकता, अत: एक बार अन्धे होने के बाद आपकी दृष्टि तत्काल

लौट आयेगी। अब यह बताइये कि आपके शाप से मैं कैसे मुक्त हो सकता हूँ?''

पौष्य – ''मेरा क्रोध अब भी शान्त नहीं हो सका है, अत: उसके शान्त होने के पूर्व मैं अपने दिये हुए शाप से मुक्त होने का उपाय नहीं बता सकता। आप तो जानते ही हैं कि 'ब्राह्मण का हृदय मक्खन के समान कोमल होता है और वाणी छुरे के समान तीक्ष्ण होती है, परन्तु क्षत्रियों का इसके विपरीत – वाणी मधुर तथा हृदय तेज धारवाले छुरे के समान कठोर होता है।' इसलिये जब तक मेरे हृदय में अब भी जो ज्वाला विद्यमान है, उसके शान्त होने तक मैं अपने शाप को दूर करने में असमर्थ हूँ।''

उत्तंक – ''ठीक है, यह सत्य है कि आपने यही सोचकर मुझे शाप दिया था कि मैं शुद्ध अन्न को दूषित कह रहा हूँ। और अब आपने अपनी आँखों से सच्चाई को देख लिया और मुझसे क्षमा भी माँग लिया है। क्षमा पा लेने के बाद भी आप मुझे अपने शाप से मुक्त नहीं करना चाहते। यह तो छल है और छली का शाप कभी पूरा नहीं होता, इसलिये आपके शाप से मेरा कोई अहित नहीं होगा।''

इतना कहने के बाद उत्तंक दोनों कुण्डल लेकर चल दिया। रास्ता चलते-चलते संध्या हो गयी देखकर उसने कुण्डलों को एक जलाशय के किनारे रखा और शौच आदि से निपटने चला गया। उसके बाद स्नान, संध्या, आह्निक आदि सम्पन्न करने के बाद उसने देखा कि कुण्डल उस स्थान से गायब हैं। वह चोर की तलाश में इधर-उधर देखने लगा। तभी उसने देखा कि एक नंगा व्यक्ति दौड़ते हुए भागा जा रहा है। उसे समझते देर न लगी कि वह तक्षक है और वही कुण्डलों को चुराकर भागा जा रहा है। रानी ने तो पहले ही सावधान कर दिया था – इन कुण्डलों के ऊपर तक्षक का लोभ है। गुरुपत्नी की इच्छा का स्मरण करके उत्तंक भी उसे पकड़ने के लिये उसके पीछे-पीछे दौड़ पड़ा। तक्षक अपने नाग-रूप में आकर एक बड़े बिल में घुस गया और सीधे नागलोक में जाकर अपने महल में प्रविष्ट हो गया।

परन्तु उत्तंक भी नाछोड़-बन्दा था। उसने भी उस बिल में प्रविष्ट होकर तक्षक को पकड़ने का निश्चय किया, परन्तु उस बिल का मुख सँकरा था, इसलिये वह एक मजबूत लकड़ी से उसे खोदने लगा। उसके मन में दृढ़ निश्चय था कि तक्षक को पकड़कर उससे कुण्डल वापस लेना है। उत्तंक का दृढ़ प्रयास देखकर इन्द्र को दया आ गयी। उन्होंने सोचा – लकड़ी से भी क्या बिल को खोदा जा सकता है! इसीलिये उन्होंने उस दण्ड में अपनी वज्रशक्ति को प्रवेश करा दिया।

अब उस बिल में से सीधे नागलोक तक का रास्ता खुल गया। उत्तंक उस मार्ग से रसातल में पहुँचकर नाग लोगों से अनुनय-विनय करने लगे कि उन्हें वे कुण्डल लौटा दिये जायँ। परन्तु इसका कोई फल नहीं हुआ। तब वे उन लोगों के नगर में घूम-घूमकर देखने लगे कि कोई उपाय हो सकता है क्या? एक स्थान पर उन्होंने देखा कि दो स्त्रियाँ एक करघे पर काले तथा सफेद सूतों से बड़ा सुन्दर वस्त्र बुन रही हैं। फिर उन्होंने देखा कि बारह तीलियोंवाले एक चक्र को छह बालक घुमा रहे हैं। वहीं पर एक सुन्दर घोड़े के साथ एक पुरुष भी खड़े थे।

उत्तंक उस पुरुष की स्तुति करने लगे, जिससे प्रसन्न हो कर वे बोले, ''बोलो, मैं तुम्हारे लिये क्या कर सकता हूँ?''

उत्तंक – ''भगवन्, यदि आप मेरा उपकार ही करना चाहते हैं, तो कृपया ऐसा कीजिये कि नागलोक मेरे वश में आ जाय।''

पुरुष – ''ठीक है, ऐसा ही होगा। तुम इस घोड़े के मलद्वार पर फूँक मारो।''

उत्तंक ने वैसा ही किया। इसके साथ ही घोड़े के समस्त अंगों से आग तथा धुँआ निकलने लगा। नाग लोग भयभीत होकर चारों ओर भागने लगे। तक्षक भी व्याकुल होकर दोनों कुण्डल लिये हुए उत्तंक के सामने उपस्थित हुआ और क्षमा माँगते हुए बोला, ''भगवन्, ये रहे आपके कुण्डल!'' इसके साथ ही घोड़े के शरीर से आग निकलना बन्द हो गया।

कुण्डलों को पाकर उत्तंक के आनन्द की सीमा न रही, परन्तु उस रसातल से उसके गुरुगृह तक पहुँचने का मार्ग काफी लम्बा था और गुरुपत्नी को उसी दिन वह व्रत सम्पन्न करना था। वह चिन्तित होकर अपने इष्टदेवता को पुकारने लगा, क्योंकि उचित समय पर दक्षिणा ने देने से उसका फल नहीं मिलता।

उन अन्तर्यामी पुरुष ने उत्तंक को चिन्तित देखकर कहा, ''उत्तंक, तुम मेरे इस घोड़े पर चढ़ जाओ। यह तुम्हें तत्काल ही तुम्हारे गुरुदेव के घर में पहुँचा देगा।''

घोड़े पर चढ़ते ही उत्तंक ने क्षण भर के बाद ही देखा कि वह गुरु के घर में पहुँच गया है। उसकी गुरुपत्नी स्नान-पूजा आदि करने के बाद उस समय अपने केश बाँध रही थीं। उत्तंक ने प्रणाम करके उन्हें कुण्डल समर्पित किया। गुरुपत्नी प्रसन्न होकर बोलीं, ''बेटा उत्तंक, तुम सकुशल तो हो न? मैं सोच रही थी कि तुम्हें इतनी देरी क्यों हो रही है? थोड़ा और विलम्ब होने से मैं तुम्हें अकारण ही शाप दे बैठती।''

उत्तंक ने उन्हें तक्षक द्वारा कुण्डलों की चोरी की घटना का वर्णन करते हुए देरी होने का कारण बताया। वे अत्यन्त सन्तुष्ट होकर बोलीं, ''मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ कि तुम चिरकाल तक सकुशल रहो। तुम्हें सर्वश्रेष्ठ की प्राप्ति हो।''

(शेष अगले पृष्ठ पर)
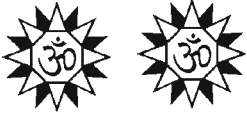
स्वामी प्रेमानन्द के संग में (१९)
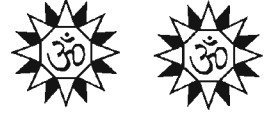
(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

३. तिब्बत में स्वामी अखण्डानन्द

स्वामी अखण्डानन्द – (भक्तों तथा ब्रह्मचारियों के प्रति) इन महापुरुष की इस बात को सुनकर मुझे एक घटना याद आयी है, सुनो –

"मैं उत्तराखण्ड का भ्रमण करने निकला था। तिब्बत आदि घूम रहा था। दो-तीन वर्ष (महाराजगण की ओर इंगित करते हुए) इन लोगों को कोई पत्र नहीं लिखा। ये लोग मेरे विषय में बड़ी चिन्ता करते थे, कभी सोचते कि पहाड़ से गिर गया होगा या बाघ आदि मुझे खा गये होंगे। उसके बाद मैं गंगोत्री आया। गंगोत्री का जल मैंने मठ में ठाकुर के लिए भेजा। उसी से इन लोगों को मेरा थोड़ा-सा आभास मिला था। इसके बाद देवप्रयाग में ठाकुर के भक्त कोन्नगर के नवाई चैतन्य के साथ भेंट हुई। वह मुझे देखकर बड़ा आनन्दित हुआ। वही वराहनगर में और उसके बाद अब देवप्रयाग में मुलाकात! अस्तु। इसके बाद मैं भूस्वर्ग काश्मीर गया। वहाँ से मैंने स्वामीजी को पत्र लिखा। तब वे गाजीपुर में थे।

"उन दिनों मेरी बड़ी इच्छा थी कि तुर्की, मध्य एशिया आदि घूम आऊँ। अंग्रेज सरकार का रेजीडेंट मुझे उन सब देशों में घूमकर उन्हें सूचना देने के लिए गुप्तचर का पद देने आया था। मैंने उसे स्वीकार नहीं किया। पद ग्रहण करने के उस प्रस्ताव को मैंने पूरी घृणा के साथ अस्वीकार कर दिया। जाने दो, वे सब बातें !

"इसके बाद स्वामीजी ने गाजीपुर से काश्मीर में मुझे बारम्बार पत्र लिखा – 'गंगा, तुम्हें बहुत दिनों से देखा नहीं, देखने की बड़ी इच्छा हुई है, चले आओ।' उन्होंने और भी लिखा – 'तुमने उत्तराखण्ड का काफी भ्रमण किया है, तुम्हें बहुत-से निर्जन पहाड़ ज्ञात हैं। मेरी इच्छा है कि बीच में कहीं न घूमकर, तुम्हारे साथ उत्तराखण्ड के किसी पहाड़ पर जाकर तपस्या में बिल्कुल मग्न हो जाऊँ। तपस्या से बढ़कर और कोई शान्ति नहीं है। तुम भी मेरे साथ रहकर तपस्या करोगे। जल्दी उतर आओ।'

"स्वामीजी के साथ मैं बहुत दिनों से नहीं मिला था।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

इसके बाद उत्तंक आचार्य के पास गया और उन्हें प्रणाम करने के बाद सूचित किया कि उसने कुण्डल लाकर गुरुपत्नी को सौंप दिये हैं। आचार्य वेद ने उसका कुशल आदि जान लेने के बाद देरी होने का कारण पूछा।

उत्तंक ने प्रारम्भ से जो कुछ भी हुआ था, वह सब बताया और पूछा – (१) वह बैल और उस पर बैठा हुआ व्यक्ति कौन था? (२) दो स्त्रियाँ जो काले तथा सफेद सूतों से कपड़ा बुन रही थीं, वह क्या था? (३) छह कुमार मिलकर बारह तीलियों वाले जिस चक्र को घुमा रहे थे, वह क्या था? और (४) वहाँ पर जो एक पुरुष तथा घोड़ा मिले थे, वे तथा उनका घोड़ा कौन थे?

आचार्य वेद ने उत्तर दिया – (१) प्रारम्भ में जो बैल और उस पर बैठा हुआ व्यक्ति दिखा था, वह बैल ऐरावत हाथी, उस पर वैठे हुए व्यक्ति स्वयं इन्द्र और उस बैल का गोबर ही वह अमृत था, जिसे खाने के कारण ही तुम नागलोक में जाकर भी जीवित लौट आये।* (२) वे दोनों स्त्रियाँ – धाता एवं विधाता हैं; और सफेद तथा काला सूत दिन तथा रात हैं। (३) वे छह कुमार छह ऋतुएँ हैं और बारह तीलियों वाले वह चक्र – बारहमासी वर्ष है, उसमें जो २४ गाँठ पड़े थे, वे २४ तत्त्व हैं। और (४) वहाँ तुमने जिन पुरुष को देखा, वे साक्षात् पर्जन्य (इन्द्र) थे। और अग्निदेव ने घोड़े का रूप धारण कर रखा था।

"वत्स उत्तंक, मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ और अब अनुमति देता हूँ कि तुम घर लौट जाओ।"

आचार्य की अनुमति पाकर उत्तंक ने उन्हें प्रणाम किया और उनसे विदा ली। परन्तु तक्षक नाग के ऊपर उसे बड़ा क्रोध आया था – वह उसे दण्ड देने का उपाय सोचते हुए हस्तिनापुर के राजा जनमेजय से मिलने चल पड़ा।

---

* (१) बैल – न्याय तथा धर्म का प्रतीक है, यज्ञ या क्रतु का रूप है। यज्ञपति हैं इन्द्र – उनका आसन न्याय तथा धर्म पर स्थापित है। इसीलिये वे बैल पर सवार हैं। यज्ञ का अवशेष ही अमृत है, जो बैल के गोबर के तुल्य है। गीता में कहा है – जो यज्ञ का अवशिष्ट खाता है, वह अमृत ही खाता है और मुक्त होकर ब्रह्मपद को प्राप्त होता है। (२) धाता = माया की स्थिति-शक्ति और विधाता = सृजनी-शक्ति है। (४) यज्ञ से पर्जन्य होता है (गीता, १४/३)। अग्नि यज्ञ का रूप है

और कई बार उनका इसी प्रकार का पत्र पाकर मैंने तुर्की जाने का संकल्प छोड़कर गाजीपुर की ओर रवाना हुआ। गाजीपुर पहुँचकर सुनने में आया कि कलकत्ते में ठाकुर के रसददार भक्त श्रीमान सुरेश बाबू के अत्यन्त अस्वस्थ हो जाने के कारण वे उन्हें देखने चले गये हैं। मैं भी गाजीपुर से कलकत्ता जाकर स्वामीजी से मिला।

"सुरेश बाबू का देहान्त हो जाने पर स्वामीजी तथा मैं उत्तराखण्ड जाने को तैयार हुए। उन्होंने मुझसे कहा – देख, गंगा, कहीं भी उतरा नहीं जायगा; सीधे उत्तराखण्ड जाना होगा। स्वामीजी की टनेल (सुरंग) देखने की इच्छा थी। इसीलिए हम लोग घूमकर लुप लाइन से भागलपुर होते हुए लखीसराय आये। इसके पहले मेरा वैद्यनाथ-दर्शन नहीं हुआ था। बाबा का दर्शन करने के लिए मैं स्वामीजी से बड़ा अनुनय-विनय तथा जोर देकर वैद्यनाथ ले आया। वे मुझसे बड़ा स्नेह करते थे, इसीलिए लखीसराय से लौटकर बाबा वैद्यनाथ का दर्शन करने के बाद हम दोनों काशीधाम में प्रमदादास मित्र महाशय के मकान में ठहरे।

"स्वामीजी की इच्छा थी कि मार्ग में अन्यत्र कहीं भी न उतरकर हम लोग काशी से सीधे उत्तराखण्ड चले जायँ। अयोध्या में सीतारामजी का एक मन्दिर है। उस मन्दिर के महन्त बड़े त्यागी तथा प्रेमी साधु थे। मैंने स्वामीजी से विशेष अनुरोध किया कि क्यों न हम उन प्रेमी साधु का दर्शन करने के बाद उत्तराखण्ड की ओर बढ़ें, परन्तु स्वामीजी बिल्कुल भी राजी नहीं हुए, वे सीधे हिमालय जाना चाहते थे। वे मुझे खूब डाँटते हुए कहने लगे – तू बाबूराम के साथ क्यों नहीं चला गया? जितने सील-लोढ़े, देवी-देवता, मन्दिर देखेगा, बाबूराम वहाँ घुसकर लोटपोट लगाने लगता है। उसी प्रकार उन्होंने थोड़ी देर बाबूराम को भी निशाना बनाकर बुरा-भला कहा। वे मुझसे बड़ा प्रेम करते थे, इसी से ऐसी खरी-खोटी सुनाया करते थे। उनकी ऐसी डाँट-फटकार सुनकर भी मैं अयोध्या के दो टिकट खरीद लाया। इस पर स्वामीजी खूब गम्भीर होकर रेलगाड़ी में चढ़े, परन्तु मेरे साथ बोलना बिल्कुल बन्द कर दिया।

"यथासमय गाड़ी अयोध्या स्टेशन जा पहुँची। हम दोनों ट्रेन से उतरे। मैं स्वामीजी के लिए हुक्के का चिलम लिए इक्के पर बैठा। काशी के स्टेशन से अब तक उनके साथ मेरी कोई बात नहीं हुई थी। वे मेरे ऊपर ऐसे नाराज हो गये थे कि उन्होंने मेरे हाथ से हुक्का लेकर फेंक दिया। अस्तु, हम इक्के पर बैठकर सरयुतट पर के विख्यात लछमन घाट के पास सीताराम के मन्दिर में ठहरे। रात को हम प्रसाद पाकर सो गये। उस रात महन्तजी के साथ अधिक बातचीत नहीं हो सकी। तब भी मेरे साथ स्वामीजी की बातें बन्द थी। मेरे मन की जो हालत थी, उसे अब क्या बताऊँ!

"युगलबल-शरण के शिष्य जानकीबल-शरण वहाँ के महन्त थे। उनकी खूब लम्बी दाढ़ी थी और वैष्णव होकर भी शरीर पर तिलक आदि कोई चिह्न न था। वे खूब बड़े महन्त थे – आय बहुत थी। इच्छा करने पर वे सोने की थाल में खा सकते थे, परन्तु बड़े त्यागी, प्रेमी तथा वैराग्यवान थे। थाल में न खाकर वे अतिथि-अभ्यागतों के साथ शाल के पत्ते में ही प्रसाद ग्रहण करते थे। उनके एक नागा सहकारी थे, जिनके गले में बड़े बड़े रुद्राक्ष की माला थी, बड़े जवान थे और हाथ में एक मोटा लट्ठ लिए रहते थे। महन्तजी जानकीबल शरण सम्पत्ति का सारा काम उन्हीं के हाथ में सौंपकर अपना सारा समय साधन-भजन में बिताया करते थे।

"इसके पूर्व भी एक बार मैं वहाँ गया था। और महन्तजी का त्याग, वैराग्य तथा प्रेम देखकर अब स्वामीजी के साथ उनका परिचय करा देने के लिए मैं बलपूर्वक उन्हें वहाँ ले गया था। अगले दिन प्रातःकाल मैंने महन्तजी के साथ स्वामीजी का परिचय करा दिया। त्याग-वैराग्य तथा भक्ति-प्रेम के विषय में दोनों के बीच काफी बातचीत के बाद प्रेमी कवि हाफिज की निष्ठा (अनन्यता) के बारे में भी बात हुई।

"स्वामीजी मेरे पर इतने चिढ़े हुए थे कि तभी से पिछली रात तक उन्होंने मेरे साथ कोई बात नहीं की थी। परन्तु महन्तजी के साथ वार्तालाप करने के बाद मेरे प्रति कृतज्ञता से उनके वे पद्मपलाश के समान बड़े बड़े दोनों नेत्र डबडबा आये और मेरे ऊपर खूब प्रसन्न होकर वे महन्तजी की खूब प्रशंसा करने लगे। प्रेमी महन्तजी भी मेरे सामने उनकी प्रशंसा में बहुत कुछ कहने लगे और उन्हें बलपूर्वक वहाँ लाने के कारण उन्होंने भी मेरे प्रति कृतज्ञता व्यक्त की।"

४. प्रेमी कवि हाफिज की निष्ठा

पूजनीय गंगाधर महाराज हाफिज* की कथा बताने लगे – "हाफिज एक बड़े निर्धन मुसलमान फकीर थे। वे भिक्षा माँगकर किसी प्रकार अपना गुजर-बसर किया करते थे। एक दिन वे गाँव की एक कम आयु की वेश्या के घर भिक्षा माँगने गये। वह बालिका बड़ी सुन्दर थी। वह परदे की आड़ से भिक्षा दे रही थी कि सहसा हाफिज की दृष्टि उसके सुन्दर रूप-यौवन पर जा पड़ी और वे उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये। कामातुर होकर वे सोचने लगे – "मैं तो नितान्त गरीब हूँ, रास्ते का कंगाल हूँ और यह महिला धनलोभी वेश्या है। मेरे लिए इसे प्राप्त करना भला कैसे सम्भव हो सकेगा? यह तो मानो बौने होकर चन्द्रमा को पाने की इच्छा करने जैसा है।" नगर के बड़े बड़े धनी युवक उसके लिए लालायित हैं, अकिंचन हाफिज भला उसे कैसे प्राप्त करें? उनकी यह कामना छोटी न थी। खैर, उन्होंने सोचा कि थोड़ा धन एकत्र कर पाने से ही उनकी मनोकामना पूर्ण हो जायेगी।

---

* फारसी के प्रसिद्ध कवि मोहम्मद शमशुद्दीन हाफिज

''हर रोज हाफिज को जो भिक्षा मिलती थी, वह उन्हीं का पेट भरने के लिये पर्याप्त नहीं थी, तो भी अगले दिन से वे उसका आधा भाग अलग रखने लगे। उस आधी भिक्षा और गोबर इकट्ठा करके उपले बेचकर जो पैसे मिलते, वे उसे एकत्र करते रहे। उन्हें आशा थी कि इसी प्रकार थोड़ा धन एकत्र हो जाने पर वे उसे प्राप्त कर सकेंगे।

''आधे-पेट भोजन से दुबले हो रहे हाफिज एक और भी बड़ा मजेदार काम करने लगे। वे हर रोज रात के अन्तिम प्रहर में उस वेश्या के घर जाकर, उसका घर झाड़ना, बरतन माँजना, पानी भरना, आदि सारे कार्य सबके अनजाने ही करके भाग आते। नौकरानियाँ सुबह उठकर देखतीं कि उनके लिए करने को कुछ भी नहीं बचा है और विस्मित होकर सोचतीं कि कौन यह सब कार्य करके चला जाता है? कुछ दिन इसी प्रकार बीत गये, घर की स्वामिनी मन-ही-मन सोचने लगी कि जो व्यक्ति इस प्रकार छिप-छिप कर मेरे घर का कार्य कर जाता है, वह चोर तो हो नहीं सकता। अवश्य ही उसका कोई उद्देश्य है। खैर, देखना होगा कि वह कौन है। मन-ही-मन ऐसा विचार करके एक दिन गृहस्वामिनी ने अपनी नौकरानियों को आदेश दिया – आज तुम लोग निद्रा का नाटक करती हुई ऐसे ही पड़ी रहो, मैं भी जागती रहूँगी, जो भी आये उसे पकड़ लेना है। महिला ने उनसे यह भी कहा कि उसे पहले मत पकड़ना, जब वह कामकाज करके जाने लगेगा, तभी उसे पकड़कर मुझे बुलाना। परन्तु खबरदार, उसके प्रति कोई कठोर व्यवहार न किया जाय।

''इस मजेदार चोर को पकड़ने के लिए रात के समय सभी जाल बिछाकर पड़ी रहीं कि कब वह परोपकारी चोर आयेगा ! यथासमय वेश्या के प्रेम में उन्मत्त वे चोर महाशय आकर, अपना सारा कार्य समाप्त करके, भोर के समय जब जाने लगे, तभी – जिसके लिए वह बहुत दिनों से आधा-पेट खाकर बाकी आधा एकत्र कर रहे थे, जिसे वे अपने प्राणों से भी अधिक प्रेम करते थे, वही महिला उनके सामने आ खड़ी हुई। उसे देखकर हाफिज बिल्कुल निश्चल हो गये।

''उस परोपकारी भिक्षुक के रूखे केश तथा छिन्न-मलिन वस्त्र देखकर गृहस्वामिनी ने दया से अभिभूत होकर अपने दास-दासियों को आदेश दिया कि उसे सुगन्धित तेल लगाकर स्नान कराने के बाद, उसके छिन्न-मलिन वस्त्र की जगह नये वस्त्र पहनाकर और उत्तम भोजन से सत्कार करने के बाद उसके कक्ष में लाया जाय। भूख से दुर्बल चिर-बुभूक्षु भिखारी हाफिज ने आजीवन कभी जिन वस्तुओं का भोग नहीं किया था, उनका आस्वादन करके आज वे आनन्द से विह्वल थे। स्नान-आहार के बाद यथासमय प्रेमिक हाफिज को अपने प्रेमास्पद के कमरे में उत्तम पलंग पर बैठाये जाने के बाद, गृहस्वामिनी ने आकर उनसे कहा – 'किस कारण तुम हर रोज छिपकर मेरा गृहकर्म पूरा कर जाते हो – इसकी जानकारी तथा तुम्हारा परिचय आदि मैं शाम के बाद आकर पूछूँगी। अभी तुम इस कमरे में सुखपूर्वक विश्राम करो।'

''आज शाम हाफिज की चिर काल की मनोकामना पूरी होगी। वे इसी आनन्द में डूबे हुए थे। कमरे में एकाकी बैठे वे तरह-तरह की बातें सोच रहे थे और बीच-बीच में समय देख लेते थे। आज का दिन उन्हें बड़ा लम्बा प्रतीत हो रहा था। कब संध्या होगी, कब संध्या होगी – यही सोच उनका चित्त व्याकुल था ! मुई संध्या क्यों नहीं आती, सूर्य जल्दी क्यों नहीं डूबता ! शाम होते-न-होते वे बारम्बार कमरे से बाहर जाकर पश्चिम की ओर देख रहे थे कि सूर्यास्त में अब कितनी देरी है। एक-एक क्षण उन्हें युग जैसा लग रहा था।

''देखते-ही-देखते जीव के शुभाशुभ कर्मों के साक्षी सूर्यदेव अस्ताचल को चले गये। कब उनकी आकांक्षित प्रेयसी आयेगी – हाफिज उत्कण्ठापूर्वक उसी शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा कर रहे थे। तभी एक दासी आकर हाफिज के कमरे में दीपक जला गयी। दासी को दीप जलाते देखकर निष्ठावान हाफिज को याद हो आया कि संध्या हो गयी है और उन्हें भी अपने पीर के दरगाह पर चिराग जलाना है। वे अनेक वर्षों से हर शाम पीर के यहाँ चिराग जला आते थे। आज क्या उस नियम का व्यतिक्रम हो जायगा? नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। इस बात का स्मरण होते ही श्रद्धापरायण निष्ठावान पीरभक्त हाफिज, अपने उस भोग्य-वस्तु – जिसके लिए वे इतने दिनों से लालायित थे, जिसके लिए वे इतने दिनों से आधे पेट खाकर पैसे एकत्र कर रहे थे – तत्काल सब कुछ छोड़कर पीर को चिराग देने दौड़ पड़े। चिराग जलाने के बाद उन्होंने देखा कि वहाँ दो फकीर गिलास में सुरापान कर रहे हैं। उन्हें भी शराब की पेशकश करने पर, वे नाराज होकर बोले – 'मैं मुसलमान हूँ, शराब पीऊँगा?'

''उनके बारम्बार अनुरोध करने पर भी हाफिज के शराब न ग्रहण करने पर फकीर ने वह गिलास जमीन पर फेंक दिया। गिलास टूट गया, परन्तु उसमें कोई भी तरल पदार्थ दिखाई नहीं दिया। इसी से हाफिज के मन में एक भाव का उदय हुआ। उन्होंने उन लोगों से शराब माँगी, परन्तु उन लोगों ने दिया नहीं। कहा, 'आखिरी प्याला तुम्हें देने गया था, तुमने लिया नहीं, अब नहीं मिलेगा।' हाफिज के काफी अनुनय-विनय करने पर उन लोगों ने कहा, 'जहाँ पर गिलास टूटा है, वहीं चाटने से थोड़ा-बहुत पा सकते हो।' उनकी बातों पर विश्वास करके जब हाफीज ने उस स्थान पर जिह्वा लगायी, तो वे तत्काल भगवत्प्रेम में उन्मत्त हो गये। उनकी भोग-पिपासा हमेशा के लिए शान्त हो गयी।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

स्वामी अद्भुतानन्द

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

असाधारण तथा अलौकिक घटनाओं से परिपूर्ण श्रीरामकृष्ण-लीला में सर्वाधिक आश्चर्यजनक घटना थी गड़ेरिया बालक रखतूराम का एक अद्भुत सन्त अद्भुतानन्द में रूपान्तरण। इस रूपान्तरण को सही में उन्नीसवीं शताब्दी के देव-मानव श्रीरामकृष्ण का 'सबसे बड़ा चमत्कार'[१] कहा गया है। उनके पास आनेवाले त्यागी शिष्यों में रखतूराम सबसे पहले थे। फिर, उनके पार्षदों में वे ही एकमात्र ऐसे थे, जिनमें किताबी ज्ञान का नितान्त अभाव था। श्रीरामकृष्ण तो थोड़ा-बहुत लिख-पढ़ भी लेते थे, पर रखतूराम तो एकदम 'निरक्षर भट्टाचार्य' थे। एक बार श्रीरामकृष्ण ने उन्हें बँगला वर्णमाला सिखाने का प्रयास किया, पर वह प्रयास निष्फल हुआ था।

रखतूराम के बचपन के बारे में बहुत कम ही ज्ञात है, क्योंकि वे अपने बारे में कुछ भी बताने में सदा संकोच किया करते थे। उनका जन्म बिहार के छपरा जिले के एक गाँव में अति सामान्य परिवार में हुआ था। बचपन में उन पर चेचक-का भयानक प्रकोप होने पर, उनके बचने के कोई आसार न देख, उनकी माता ने भगवान श्रीराम से उनकी रक्षा के लिए प्रार्थना की। इसके फलस्वरूप बालक बड़े ही आश्चर्यजनक रूप से धीरे-धीरे उस मरणासन्न अवस्था से उबर गया। माता-पिता ने इसे प्रभु की कृपा मान बच्चे का नाम रख दिया – रख-तू-राम (राम द्वारा रक्षित)। गड़ेरिये की सन्तान होने के कारण किशोरावस्था में वह भेड़ चराने जाता। अपने कैशोर्य के अनुभवों की याद करते हुए बाद में उन्होंने कहा था, "मैं तो चरवाहों के साथ रहा करता था, समझे ...। वे लोग बड़े ही सरल होते हैं। उनके जैसा सरल हुए बिना आनन्द नहीं मिलता।"[२] किशोरावस्था में मानो पग-पग पर दरिद्रता, दयनीयता और परिजनों के बिछोह के दु:ख ने उनका पीछा किया। पाँच वर्ष भी पूरे न हुए थे कि माँ-बाप चल बसे। ऐसी निराशापूर्ण परिस्थितियों में बालक रखतूराम के भीतर की आध्यात्मिक सम्भावनाओं का प्रस्फुटन हुआ। प्रकृति के

१. स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था, "लाटू श्रीरामकृष्ण का सबसे बड़ा चमत्कार है। बिलकुल अपढ़ होने पर भी ठाकुर के स्पर्श से उसने सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त कर लिया है।" (द्र. 'द अपोसल्स ऑफ श्रीरामकृष्ण', मायावती, अद्वैत आश्रम, १९६७, पृ. २७१)

२. चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय : 'अद्भुत सन्त अद्भुतानन्द', रामकृष्ण मठ, नागपुर, प्रथम संस्करण, पृ. ३ (आगे से 'अद्भुत सन्त')

पिछले पृष्ठ का शेषांश

"इधर शाम के समय हाफिज को कमरे में न पाकर वेश्या बाहर निकल आयी और ग्रामवासियों से पूछताछ करते हुए उनके पास पहुँचकर उसने देखा कि भिक्षुक प्रेमोन्मत्त है और उनके दोनों नेत्रों से आनन्दाश्रु बह रहे हैं। भावविह्वल प्रेमी हाफिज ने उसे भी वही स्थान चाटने को कहा। वैसा करने पर वह भी प्रेमोन्मत्त हो गयी। उसके भी जीवन की दिशा बदल गयी। क्षण भर साधुसंग के फलस्वरूप वेश्या को नवजीवन मिला और वह भगवत्-आराधना में डूब गयी।

"इसके बाद से प्रेमी हाफिज अपनी कुटिया में बैठे अल्लाह का नाम जपते और केवल शाम को एक बार भिक्षा माँगने तथा पीर को चिराग देने बाहर निकलते। उसी समय वे रास्ते से खपड़ैल के टुकड़े उठाकर लाते हुए दीख जाते, इसके अलावा वे और कभी कहीं जाते हुए नहीं दिखते। इस प्रकार दिन-पर-दिन, माह-पर-माह, वर्ष-पर-वर्ष बीतते गये। एक बार उनके पड़ोसियों ने कई दिनों तक उन्हें भिक्षा के लिये न निकलते देखकर उनके कमरे में प्रवेश किया और देखा कि निष्ठावान साधक इहलोक को छोड़कर परलोक जा चुके हैं। वहाँ पड़ा हुआ था – उनका मृत शरीर, एक फटी हुई गुदड़ी, एक जलपात्र, एक टूटी-फूटी मिट्टी की थाली; और उनकी मुख्य सम्पत्ति के रूप में सात बड़े-बड़े घड़े पड़े हुए थे। उन सात मटकों में बहुत सारे खपरैल के टुकड़े भरे थे। इन भिक्षु साधक के मन में प्रतिदिन जिन-जिन भावों का उदय होता, दिवाने हाफिज उन्हें खपरैल के एक टुकड़े से दूसरे टुकड़े पर लिखकर उन घड़ों में डाल देते। उनके देहान्त के बाद विद्वानों द्वारा उनका उद्धार करके 'दीवाने-हाफिज' नामक विश्वविख्यात ग्रन्थ तैयार किया गया।"

गंगाधर महाराज – (महापुरुष महाराज के प्रति) देखिए, निष्ठा ने ही हाफिज को संकटों से बचाया। स्त्री का जाल बड़ा विषम जाल है। क्या इससे भी बढ़कर कोई विपत्ति या दूसरा कोई बन्धन है? अपनी निष्ठा के कारण ही हाफिज इतना बड़ा संकट और इतना बड़ा बन्धन काट सके थे।

❖ (क्रमश:) ❖

साथ सामीप्य की भावना ने उसे ईश्वर की महत्ता समझने में सहायता दी। अपने एकान्त के क्षणों में वह गाया करता, 'मनुवा रे, सीताराम भजन कर लीजिये।' अनाथ बालक के उदार चाचा ने उसकी देखरेख की। चाचा अपने खर्चीले स्वभाव के कारण अन्त में अपना सब कुछ खोकर नौकरी के लिए कलकत्ते आ गये। जैसा कि स्वाभाविक था, रखतूराम भी उनके साथ कलकत्ते आये।

ग्रामीण परिवेश का छूट जाना रखतूराम के लिए एक आघात-जैसा था और शहरी जीवन के साथ मेल करने में उसे काफी समय लगा। कुछ प्रयास के बाद चाचा ने अपने गाँव के ही एक व्यक्ति फूलचन्द को ढूँढ़ निकाला, जो कलकत्ता मेडिकल कॉलेज के सहायक-केमिस्ट रामचन्द्र दत्त का चपरासी था। फूलचन्द ने प्रयास कर कालेज चौक[३] में स्थित 'दत्ता स्टेशनरी' की दुकान में रखतूराम को नौकरी दिला दी। कुछ दिनों बाद दुकान के बन्द हो जाने पर रामचन्द्र दत्त ने रखतूराम को अपने घर के काम पर लगा लिया। घर में सबके द्वारा स्नेह से 'लालटू' पुकारा जानेवाला मेहनती, सरल और वफादार रखतूराम[४] शीघ्र ही अपनी पैनी समझ के कारण शहरी रंग-ढंग से परिचित हो गया। यद्यपि वह सीधा और सरल था, पर नैतिक बल और आस्था ने उसे पर्याप्त शक्ति दी थी, जिससे विपरीत परिस्थितियों में भी वह खड़ा रह सकता था। यद्यपि वह परिवार के लोगों के विभिन्न कामों में व्यस्त रहता, तथापि अपने फुरसत के समय का सदुपयोग कुश्ती सीखने और व्यायाम करने में करता।

रामचन्द्र दत्त श्रीरामकृष्ण के भक्त थे, अत: उनका मकान आध्यात्मिकता से परिपूर्ण था और वहाँ यदा-कदा ईश्वर-चर्चा भी होती रहती। एक बार लालटू ने रामचन्द्र को यह कहते सुना, "भगवान मन देखते हैं। कौन किस कार्य में लगा है, कौन कहाँ पड़ा है – यह नहीं देखते।" एक दूसरे समय उन्हें कहते सुना, "हार्दिक व्याकुलता के साथ उन्हें न पुकारने पर वे दर्शन नहीं देते।... निर्जन में उनके लिए प्रार्थना करनी चाहिए, उनके लिए रोना चाहिए।"[५] ये बातें लालटू के अन्तस्तल में गहराई तक भिद गयीं और उसने इन्हें न सिर्फ सारे जीवन याद रखा, पर उन बातों ने उसमें एक स्पष्ट परिवर्तन ला दिया। ऐसा लगता है कि उसकी पैनी समझ ने उसे अपने लिए मार्ग चुनने में सहायता दी। उसके बाद कई बार लालटू को कम्बल ओढ़कर लेटे हुए तथा प्राय: आँखों से आँसू पोंछते हुए देखा जाता। कोई उसे ठीक से समझ नहीं सका। घर की महिलाएँ यह समझकर कि वह अपने घर या परिवार की याद करके कातर हो रहा है, उसके प्रति सहानुभूति दर्शातीं।

लालटू ने कई बार रामचन्द्र दत्त को बड़े भक्तिभाव से श्रीरामकृष्ण का नाम लेते सुना था, इसलिए उन महान् सन्त के दर्शन की तीव्र अभिलाषा उसके भीतर जाग उठी थी। शीघ्र ही उसे सुअवसर मिल भी गया। जनवरी १८८०[६] के प्रारम्भ के एक रविवार को जब रामचन्द्र श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए दक्षिणेश्वर जाने की तैयारी कर रहे थे, लालटू ने उनसे उसे अपने साथ ले चलने की प्रार्थना की। रामचन्द्र राजी हो गये।

श्रीरामकृष्ण की आयु तब ४४ वर्ष थी। उनका व्यक्तित्व अनोखा था, जिसमें से आनन्द और शान्ति की प्रभा फूटती थी। वे सब प्रकार की धार्मिक अनुभूतियों की उपलब्धि करके शान्ति को प्राप्त हुए थे और उनकी कुछ अनुभूतियाँ तो शास्त्रों में वर्णित अनुभूतियों को भी लाँघ गयी थीं। धर्म के विभिन्न मार्गों की बाह्य विभिन्नताओं के भीतर एकता का सूत्र बताने की उनकी अपूर्व क्षमता, अध्यात्म-विज्ञान में उनकी गहरी पैठ, मनुष्य के दिव्य स्वभाव के विषय में उनकी व्यापक दृष्टि और सर्वोपरि, मानवमात्र के लिए उनकी चिन्ता और प्रेम ने उनके जीवन और उपदेशों को उज्ज्वल भारतीय परम्परा की जीवन्त व्याख्या बना दिया था। वस्तुत: वे उस महाकाव्य-जैसे थे, जो धार्मिक मान्यता के समस्त पहलुओं का सार-संक्षेप एक ही जीवन में समाविष्ट कर देता है। और शीघ्र ही वे एक ऐसा केन्द्र बनानेवाले थे, जिसके चारों ओर विभिन्न पथों के निष्ठावान् लोग एकत्र होकर उन्हें अपने-अपने आलोक में देखनेवाले थे।

दक्षिणेश्वर का मन्दिर पिछले २४ वर्षों से अर्थात् लगभग उनकी आधी उम्र से उनका आवास बना हुआ था। वे रानी रासमणि द्वारा बनाये मन्दिरों की शृंखला के उत्तर-पश्चिमी कोनेवाले कमरे में रहते थे। वे साम्प्रदायिक विचारों, विरोधाभासों

३. उद्बोधन (बँगला), बंगाब्द १३३१, पृ. ४०३; **४.** स्वामी गम्भीरानन्द : 'श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका', भाग १, १९८६, पृ. ३८८; **५.** 'अद्भुत सन्त', पृ. १४

६. 'उद्बोधन' (१३५७ बंगाब्द, आश्विन-कार्तिक अंक) में प्रकाशित स्वामी गम्भीरानन्द ने अपनी बँगला लेखमाला 'त्यागी भक्तदेर श्रीरामकृष्ण समीपे आगमन' में, जो बताया है कि प्रथम भेंट १८७९-८० में हुई थी। सम्भावित तिथि निकालने के प्रयास में हमें यह ध्यान में रखना होगा कि रामचन्द्र दत्त की श्रीरामकृष्ण से प्रथम भेंट १३ नवम्बर, १८७९ को हुई थी। लाटू ने रामचन्द्र के परिवार को श्रीरामकृष्ण से अच्छी तरह परिचित पाया था। साथ ही ३ मार्च १८८० से १० अक्तूबर १८८० तक के आठ महीने श्रीरामकृष्ण कामारपुकुर में थे। उनके कामारपुकुर जाने से पूर्व लाटू ने तीन बार उनके दर्शन किये थे। इनमें आखरी भेंट उस समय हुई थी, जब श्रीरामकृष्ण के पास उनके चिकित्सक उपस्थित थे। दूसरी भेंट फरवरी में इसके कुछ हफ्तों पूर्व हुई थी। इसलिए सब सम्भावनाओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि प्रथम भेंट १८८० के प्रथम हफ्ते के रविवार को हुई थी।

और दार्शनिक विवादों की निन्दा करते तथा मनुष्यों में बच्चों-जैसी सरलता, भगवत्-प्रेम और भगवत्-समर्पण को बढ़ावा देते। फलस्वरूप जो उनके सान्निध्य में आता, उस पर वे गहरा प्रभाव डालते। बड़े-बड़े पदवाले और ऊँची शिक्षाप्राप्त लोग दल-के-दल इस सीधे और सरल स्वभाववाले दक्षिणेश्वर के सन्त के पास पहुँचने लगे, जो दिव्यानन्द में ओतप्रोत प्रतीत होते थे। एक बार उन्होंने अपने चौम्बकीय प्रभाव का रहस्य बतलाते हुए कहा था, "इसके (अपनी ओर दिखाते हुए) भीतर ईश्वर की सत्ता है, इसीलिए आकर्षण इतना बढ़ रहा है, लोग खिंचे आते हैं। छूने से ही हो जाता है। वह आकर्षण ईश्वर का ही आकर्षण है।"[७] लालटू भी इस खिंचाव की परिधि में आ पड़ा।

रामचन्द्र जब लालटू को लेकर दक्षिणेश्वर पहुँचे, तब श्रीरामकृष्ण के भतीजे रामलाल वहीं खड़े थे। रामचन्द्र उनके कमरे में प्रविष्ट हुए, पर लालटू वहीं बाहर पश्चिमी बरामदे में खड़ा रहा। श्रीरामकृष्ण तब कमरे में नहीं थे, पर थोड़ी ही देर में गुनगुनाते हुए बरामदे में दिखायी पड़े – 'सखे, उस दिन तुम्हारे वन जाते समय मैं अपने द्वार पर खड़ी तुम्हारी राह देखती रही' आदि। उन्हें वहाँ देखकर रामचन्द्र बरामदे में निकल आये। श्रीरामकृष्ण की दृष्टि ज्योंही ठिगने, मजबूत और तगड़े लालटू पर पड़ी, तो वे रामचन्द्र से पूछ उठे, "इस लड़के को क्या तुम अपने साथ लाये हो? अच्छा राम, इसे तुमने कहाँ पाया? इसमें तो मुझे साधु के लक्षण दिखायी पड़ते हैं।"[८] अध्यात्म-विज्ञान के महान् वेत्ता होने के कारण श्रीरामकृष्ण किसी भी आदमी का भीतर-बाहर स्पष्ट पढ़ सकते थे। उन्होंने आसानी से लालटू की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को परख लिया और लालटू के व्यक्तित्व के मुख्य स्वरूप को बदले बिना ही उन्हें पूर्ण रूप से विकसित करने का निश्चय कर लिया। वे यह भी जान गये कि यह नवागन्तुक उनके अन्तरंग भक्तों में से एक है। दूसरी तरफ लालटू श्रीरामकृष्ण की सरलता और पवित्रतापूर्ण उत्फुल्ल सहज आकर्षक व्यक्तित्व को देख मुग्ध हो उठा। उसने ज्योंही श्रीरामकृष्ण के स्नेहमय नेत्रों में देखा, उसके हृदय में आनन्द की तरंगें उठने लगीं। भीरु, विनयी तथा प्रेमिक लालटू ने श्रीरामकृष्ण के प्रति तीव्र आकर्षण महसूस किया।

श्रीरामकृष्ण और रामचन्द्र कमरे में गये, पर लालटू को अन्दर जाने में संकोच हुआ। रामलाल का आग्रह भी उसकी संकोच को दूर नहीं कर सका। श्रीरामकृष्ण के आवाज देने पर लालटू भीतर गया और रामचन्द्र का अनुसरण करते हुए उसने श्रीरामकृष्ण को साष्टांग प्रणाम किया। श्रीरामकृष्ण रामचन्द्र से वार्तालाप करने लगे। लालटू को तब भी खड़े देखकर श्रीरामकृष्ण ने स्नेहपूर्वक उससे कहा, "बैठ जाओ।" लालटू अपने मालिक रामचन्द्र के पास खिसक आया, पर खड़ा ही रहा। श्रीरामकृष्ण कहने लगे, "जो लोग नित्यसिद्ध हैं, उनमें ज्ञानचैतन्य पहले से ही पड़ा हुआ है। मानो वे पत्थर से ढँके फव्वारे हैं। मिस्त्री इधर-उधर खोदते-खादते ज्योंही एक जगह का अवरोध हटा देता है, त्योंही फव्वारे से कल-कल कर जल की धार निकल पड़ती है।"[९]

वार्तालाप का यह विषय पूरा भी न हुआ होगा कि श्रीरामकृष्ण आगे बढ़ आये और हाथ से लालटू का स्पर्श किया। इस विद्युत्-स्पर्श ने लालटू के भीतर एक अद्‌भुत अनुभव को जगा दिया। भगवान के लिए खूब प्रबल व्याकुलता और प्रेम ने उसके हृदय को आच्छन्न लिया और उसका बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया। देह निःस्पन्द हो गयी, उसे सहसा रोमांच हो आया और उसके नेत्रों से आनन्दाश्रु की धारा प्रवाहित होने लगी। उसके ओठ फड़कने लगे। रामचन्द्र उसकी अवस्था में ऐसा परिवर्तन देख आश्चर्यचकित रह गये। इस आश्चर्यजनक मधुर अनुभवों में से गुजरते हुए लालटू प्रायः एक घण्टे से भी अधिक देर तक अश्रुपात करता रहा। अन्त में रामचन्द्र ने श्रीरामकृष्ण से लालटू को सहज करने की प्रार्थना की। तब श्रीरामकृष्ण ने उसका पुनः स्पर्श किया। तब कहीं लालटू अपने को कुछ संवरित कर सका।[१०] श्रीरामकृष्ण के कहने से रामलाल ने लालटू को प्रसाद लाकर दिया। प्रसाद खाने के बाद लालटू अपनी पूर्व की सहजावस्था में लौट आया। यह इस सरलचित्त बालक के लिए एक व्यंजक अनुभूति थी, जिसने उसके अन्तर में क्रान्ति ला दी थी। श्रीरामकृष्ण के लिए यह प्रयोग इस बात को प्रकट करनेवाला था कि लालटू के भीतर कितनी सम्भावनाएँ हैं और उसकी उन आध्यात्मिक अनुभवों को प्राप्त करने के लिए कितनी मानसिक तैयारी है, जिन्हें श्रीरामकृष्ण उसे बाँटने के लिए आतुर थे।

श्रीरामकृष्ण ने लालटू को मन्दिर देख आने के लिए कहा। लालटू ने वैसा ही किया। रामचन्द्र जब विदा ले रहेथे, तब श्रीरामकृष्ण ने कहा, "अच्छा, इस लड़के को बीच-बीच में भेजते रहना।" लालटू को सम्बोधित करके कहा, "यहाँ आना, जब-जब बन सके, आना।" श्रीरामकृष्ण लालटू को 'लेटो' या 'नेटो' कहते; वही दूसरों में प्रचलित होकर 'लाटू' हो गया। लाटू अपने भीतर एक अमिट छाप लेकर घर लौट रहा था। अब एक दूसरा ही व्यक्ति बन चुका था। वह अन्तर्मुखी हो गया। दत्त परिवार के लोगों की सब

७. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, नागपुर, भाग २, सं. १९९९, पृ. ९५५-६
८. 'अद्‌भुत सन्त', पृ. १६

९. वही, पृ. १७; **१०.** यह वर्णन रामचन्द्र दत्त का है, द्र. 'अद्‌भुत सन्त', पृ. १६-१७

प्रकार की झिड़कियाँ सुनने के बावजूद उसे अपने घरेलू काम निरर्थक और नीरस लगने लगे। वह मानो एक चाभीवाले खिलौने-जैसा बन गया था। उसे लगता कि उसकी ध्यान की वृत्ति बेकार की बातों से बार-बार भंग हो रही है।

कुछ सप्ताह बाद, १८८० की फरवरी में, लाटू को पुन: श्रीरामकृष्ण के पास जाने का सुअवसर मिला। छह मील से अधिक पैदल चलकर करीब ११ बजे दिन को वह रामचन्द्र द्वारा भेजे फल तथा मिठाई लेकर दक्षिणेश्वर पहुँचा। बगीचे के रास्ते में ही श्रीरामकृष्ण मिल गये, वहीं उसने उन्हें प्रणाम किया। श्रीरामकृष्ण के साथ उसने विष्णु-मन्दिर की आरती देखी। भाव में विभोर होकर वह जोर-जोर से 'जय राम, जय राम, गाने लगा। आरती समाप्त होने पर श्रीरामकृष्ण ने लालटू से मन्दिर में प्रसाद लेने के लिए कहा, पर बालक का रूढ़िग्रस्त मन इसके लिए राजी न हुआ। तथापि अपनी पैनी समझ से उसने शीघ्र ही एक रास्ता ढूँढ़ निकाला और कहा, "मैं सिर्फ आपका प्रसाद लूँगा – और कुछ नहीं।"[११] निश्चित ही श्रीरामकृष्ण इससे प्रसन्न हुए होंगे। लाटू ने सारा दिन श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में बिताया और सन्ध्या समय उनसे विदा लेकर कलकत्ते के लिए रवाना हुआ।

कुछ दिनों बाद चिकित्सकों की सलाह पर श्रीरामकृष्ण वायु-परिवर्तन के लिए कामारपुकुर गये और वहाँ आठ महीने रहे। लालटू उनके अभाव में व्याकुल हो उठा और उसे अपने भीतर सूनापन लगने लगा। दक्षिणेश्वर की यात्रा उसे और अधिक उदास तथा आकुल बना देती, क्योंकि श्रीरामकृष्ण के गहरे प्रेम और अपनत्व की याद हो आती। वह अपने विछोह को अकेले में रो-रोकर हलका करने की चेष्टा करता। अपनी इस वेदना का बाद में वर्णन करते हुए उन्होंने कहा था, "जानते हो... उनके लिए मेरा मन कैसा भारी हो जाया करता था! बड़ा अस्थिर हो पड़ता था। रामबाबू के घर पर न ठहर पाता था, छिपकर दक्षिणेश्वर चला आता था, पर वहाँ भी आनन्द न मिलता था, उनके कमरे में भी नहीं जा पाता था, सब सूना-सूना लगता था। उद्यान में घूमता-फिरता, गंगातट पर बैठे-बैठे रुलाई आने लगती; मेरा दु:ख तुम लोग भला क्या समझो? सच कहता हूँ, मेरी बात तुम लोग नहीं समझ सकोगे, राम बाबू थोड़ा-थोड़ा समझते थे। इसीलिए वे मुझे कितना समझाया-बुझाया करते। मुझे उनका एक चित्र भी दिया था।"[१२]

जब श्रीरामकृष्ण लौटकर दक्षिणेश्वर आये, तब लाटू को लगा कि मानो उसे नया जीवन मिल गया है। उसकी अगली दक्षिणेश्वर-यात्रा पर श्रीरामकृष्ण ने उससे रात में वहीं रुकने को कहा। उसने बड़े आनन्द से मान लिया। रात्रि-भोजन के बाद वह श्रीरामकृष्ण के चरण दबाने लगा। उस स्पर्श ने उसके भीतर एक भावावेग जगा दिया और उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। धीरे-धीरे उसकी वाणी अवरुद्ध हो गयी, शरीर नि:स्पन्द तथा दृष्टि स्थिर हो गयी। घण्टे-पर-घण्टे बीत गये, पर उसकी दशा नहीं बदली। यह भावावेश दूसरे दिन दोपहर तक बना रहा। इसके बाद श्रीरामकृष्ण की सहायता से उसका यह भाव शान्त हुआ और तब कहीं वह सहजावस्था को प्राप्त हुआ। इस अवसर पर लाटू तीन दिनों तक श्रीरामकृष्ण के पास रहा। कुछ जोर देने पर ही वह रामचन्द्र के घर वापस लौटा था।[१३] अब तक लाटू के अन्दर श्रीरामकृष्ण के प्रति इतना लगाव पैदा हो गया था कि वह सदा उनके पास ही रहना चाहता था।

१८८१ ई. के जून में श्रीरामकृष्ण की देखभाल करनेवाले उनके भानजे हृदयराम मुखर्जी को सदा के लिए दक्षिणेश्वर छोड़कर चले जाना पड़ा। श्रीरामकृष्ण ने रामचन्द्र से कहा कि वे उनके स्थान पर लाटू को दे दें। उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। इससे लाटू की श्रीरामकृष्ण की व्यक्तिगत सेवा करने की साध पूरी हुई। वह अपने गुरु की निष्ठापूर्ण भक्ति के साथ सेवा करने लगा। गुरुसेवा से सर्वोच्च धर्मोपलब्धि हो सकती है – धर्मग्रन्थों की यह मान्यता लाटू के जीवन में साकार होने लगी। गुरु की सामान्य इच्छा या बात भी उसके लिए पवित्र आदेश के समान थी। एक दिन संध्या के समय उसे सोते देख श्रीरामकृष्ण ने हल्के से झिड़कते हुए कहा, "अरे, इस समय सोएगा तो फिर ध्यान कब करेगा?"[१४] बस, इतना की काफी था, इसके बाद से लाटू ने जीवन भर के लिये रात को सोना ही छोड़ दिया। दिन में थोड़ी देर झपकी ले वह पूरी रात अपनी शक्ति भर भगवान का नाम जपने और ध्यान करने में बिताता। यद्यपि लाटू श्रीरामकृष्ण को बहुत ही उच्च स्थान देता, पर उनके साथ उसका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। बाद में अपने सम्बन्ध के बारे में बताते हुए उन्होंने कहा था, "क्या मैं ठाकुर को भगवान मानता था? यदि ऐसा होता, तो फिर मैं उनकी सेवा कैसे कर पाता, उनके पास कैसे रह पाता? वे मुझे अपने प्यारे पिता-जैसे लगते, इसीलिए मुझे कोई चिन्ता न होती और मैं उनसे बहुत हिला हुआ था।"[१५] वे स्वयंस्फूर्त हो सदैव श्रीरामकृष्ण की व्यक्तिगत सेवा में तत्पर रहते। "वे श्रीरामकृष्ण की सभी जरूरतों को समझ जाते और जैसे माँ बच्चे की देखभाल करती है, वैसे ही उनके कम खाने पर या स्वयं के प्रति लापरवाह दिखने पर डाँटते हुए-से उनकी देखभाल करते।"[१६]

---

११. वही, पृ. १८-१९; **१२.** वही, पृ. ३९-४०

१३. 'भक्तमालिका', भाग १, पृ. ३९३; **१४.** डिसाइपल्स ऑफ श्रीरामकृष्ण (मायावती, १९५५), पृ. १८४; **१५.** 'सत्कथा' (बँगला), सं. स्वामी सिद्धानन्द, पंचम सं., पृ. ९; **१६.** सिस्टर देवमाता : श्रीरामकृष्ण ऐंड हिज डिसाइपल्स, ला क्रेसेन्टा, १९२८, पृ. ८८

श्रीरामकृष्ण के एक अन्य अन्तरंग शिष्य स्वामी रामकृष्णानन्द ने यह स्वीकार किया था कि प्यार से की जानेवाली सेवा का गुर उन्होंने लाटू से ही सीखा था।

परवर्ती काल में स्वामी अद्भुतानन्द के रूप में लाटू कहते, "अनेक लोग साधना में इसलिए सफल नहीं हो पाते कि वे ठाकुर के बताये हुए निर्देशों का पालन नहीं करते।"[१७] उनका स्वयं का जीवन पूर्ण आज्ञाकारिता का एक उदाहरण था। बनावट से दूर रहनेवाले लाटू ने कभी अपने गुरु के वचनों पर शंका या बहस नहीं की। श्रीरामकृष्ण के मुख से निकला हर शब्द लाटू के लिए अन्तिम और पालनीय था।

श्रीरामकृष्ण इस निष्ठावान शिष्य के लिए एक ही आधार में सखा, सलाहकार और गुरु थे। लाटू ने एक बार निश्चय किया कि नींद खुलने पर सर्वप्रथम ठाकुर के सिवाय अन्य किसी का मुख नहीं देखेगा। एक सुबह उठकर ठाकुर को निकट न पाकर वह आँखें बन्द किये ही उन्हें पुकारने लगा। लाटू की आवाज सुन श्रीरामकृष्ण आये और उसे राहत दी।

माँ सारदा की सेवा का अधिकार पाने वाले कुछ गिने-चुने लोगों में लाटू भी एक था। वह उनके लिए आटा गूँथता, बर्तन माँजता, बाजार से सौदा ले आता, आदि। माँ उसे अपनी सन्तान-जैसा स्नेह देतीं और लाटू भी उन पर बड़ी श्रद्धा रखता। वह कहता, "वे साक्षात् लक्ष्मी हैं।" फिर कहता, "माँ मेरा भूत, भविष्य, वर्तमान सब जानती हैं।... मैं हर किसी से माँ की बातें नहीं कहता, क्योंकि वे लोग उनको समझ तो पाएँगे नहीं, बल्कि गलत समझ बैठेंगे।"[१८]

इधर लाटू पूरे तन-मन से श्रीरामकृष्ण की सेवा कर रहा था, तो उधर श्रीरामकृष्ण अज्ञात रूप से दृढ़ता के साथ लाटू को आध्यात्मिक पथ पर ले चल रहे थे। उनका मार्ग-दर्शन इतना प्रभावी था कि चार वर्षों के भीतर ही लाटू ने आश्चर्यजनक रूप से प्रगति कर ली। २० जून १८८४ को श्रीरामकृष्ण ने उसके बारे में कहा था, "इन लड़कों का स्वभाव एक खास तरह का हो रहा है। नोटो (लाटू) ईश्वरी भाव में ही रहता है – वह तो शीघ्र ही ईश्वर में लीन हो जाएगा।"[१९] ईश्वर के लिए इतनी तड़पन ने लाटू के लिए समस्याएँ और खतरे भी उत्पन्न कर दिये, परन्तु श्रीरामकृष्ण ने हमेशा एक करुणामयी माँ के समान उसकी रक्षा की। एक दिन जब वह गंगा के तट पर ध्यान कर रहा था, तभी ज्वार आ गया और लाटू चारों ओर से पानी से घिर गया। श्रीरामकृष्ण के पास खबर पहुँचते ही वे शीघ्रता से आये और लाटू को उठाया। एक अन्य दिन लाटू एक शिव-मन्दिर में गहरे ध्यान में बैठा था। इस तन्मयता में ही घण्टों बीत गये।

१७. 'सत्कथा', पृ. ३९; **१८.** 'अद्भुत सन्त', पृ. २७१-७२; **१९.** 'वचनामृत', भाग १, सं. १९९९, पृ. ५२६

श्रीरामकृष्ण को ज्ञात होने पर वे वहाँ आये और पसीने से तरबतर लाटू को पंखा झलने लगे। बाह्य ज्ञान प्राप्त होने पर लाटू बड़े संकोच का अनुभव करने लगा। सच तो यह है कि कहाँ तो सेवक श्रीरामकृष्ण की देखभाल करता, पर इन दिनों वे स्वयं ही अपने सेवक की देखभाल कर रहे थे!

आन्तरिक जीवन के क्रमशः विकास से लाटू एक भिन्न व्यक्ति बन गया। उसकी देह के रंग में चमक आ गयी, दृष्टि स्थिर, गहरी और भावप्रवण हो गयी; आवाज में गम्भीरता और अधिकार आ गया; चाल भी संयत हो गयी और कदम नपे-तुले पड़ने लगे।[२०] देहाती बालक रूपान्तरित होकर अब श्रीरामकृष्ण का आत्मविश्वासी शिष्य तथा पार्षद बन गया।

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के उपरान्त लाटू में सर्वोच्च आध्यात्मिक उपलब्धि की इच्छा प्रबल हो गयी, अतः अब वे और भी अधिक गहन साधनाओं में डूब गया। शरीर की परवाह किये बिना वे छह वर्षों तक दिन-रात निरन्तर जप-ध्यान में करते रहे। उनकी अथक चेष्टा और ईश्वर के प्रति पूर्ण रूप से समर्पण की भावना ने मिलकर उसे अनुभूति के चरम शिखर तक पहुँचा दिया। अपने गुरु के समान ही उनका भी ज्ञान के स्रोत से सीधा सम्पर्क था और इसलिए औपचारिक शिक्षा न होते हुए भी वे एक महान् आत्मज्ञानी बन गये। पण्डित तथा दार्शनिक लोग उनके मुख से निःस्रित ज्ञान-प्रवाह को सुन ठगे-से रह जाते। वे बँगला और भोजपुरी की मिलीजुली एक खिचड़ी भाषा में बोलते, परन्तु उसी भाषा के माध्यम से वे सर्वोच्च ज्ञान के तत्त्व को प्रकट किया करते थे। वह भविष्यवाणी पूरी हुई, जो एक बार श्रीरामकृष्ण की भावावस्था में उनके मुख से निकल पड़ी थी, "अरे लेटो! तेरे मुख से वेद-वेदान्त का स्रोत फूट निकलेगा।"[२१]

संन्यास-व्रत में दीक्षित होते समय उसके असाधारण त्याग तथा तितिक्षा को देखकर स्वामी विवेकनन्द ने लाटू को स्वामी अद्भुतानन्द नाम दिया था।[२२]

लाटू की ज्ञानभरी उक्तियाँ सुनकर स्वामी विवेकानन्द उन्हें स्नेहपूर्वक प्लेटो कहा करते थे। इन 'प्लेटो' के लिए महान् विवेकानन्द उनके प्रिय 'लोरेन भाई' थे, जिनका साथ उन्हें बड़ा प्रिय था। वे कहा करते थे, "यदि मुझे लोरेन भाई का साथ मिलता रहे, तो मैं सौ जन्म लेने को तैयार हूँ।"[२३] उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण के अन्य संन्यासी एवं गृही भक्तों के साथ भी उनका सम्बन्ध बड़ा मधुर था।

२०. महेन्द्रनाथ दत्त : 'तापस लाटू महाराजेर अनुध्यान' (बँगला), कलकत्ता, महेन्द्र पब्लिशिंग कमिटी, बंगाब्द १३६३, पृ. ५८; **२१.** 'अद्भुत सन्त', पृ. ३२२; **२२.** देखे स्वामी अभेदानन्द : 'आमार जीवनकथा' (बँगला) कलकत्ता, बंगाब्द १३७१, पृ. १४१; **२३.** 'डिसाइपल्स', पृ. १९३

उनके बालकवत् विश्वास, प्रगाढ़ भक्ति, पवित्र चरित्र और नैष्ठिक साधना के साथ ही उनकी उच्च आध्यात्मिक प्रगति का रहस्य था – अपने गुरुदेव के प्रति उनका पूर्ण समर्पण। वे कहा करते थे, "भगवान के पास पहुँचने का मार्ग बाधाओं और प्रलोभनों से भरा पड़ा है।... तुम्हें अपने प्रत्येक कदम के साथ अपने रक्षक को पुकारना पड़ेगा, अपने को पूरी तरह उनके भरोसे छोड़ दो। एकमात्र इस प्रकार की अनन्य शरणागति से ही प्रलोभनों के जाल से बचने की आशा की जा सकती है। यदि हम सतत सतर्क न रहें और भगवान की इच्छा पर पूरी तरह से आश्रित न रहें, तो वासनाओं और कामनाओं से कभी मुक्त नहीं हो सकते।"[२४] उन्होंने अपने एक शिष्य को इस प्रकार सावधान करते हुए मानो अपना ही अनुभव व्यक्त किया था।

लाटू महाराज के ऊपरी रूक्ष व्यक्तित्व के भीतर एक कोमल हृदय था, जो हमेशा – दीन किन्तु निष्ठावान, पतित किन्तु श्रद्धालु, निर्धन किन्तु विश्वास के धनी लोगों को सहानुभूति देने में तत्पर रहता। वस्तुत: वे सबके मित्र थे, एक सन्त थे और श्रीरामकृष्ण के सन्देश-वाहक थे। एक बार उन्होंने कहा था, "व्यक्ति से जितना भी हो सके साधुसंग करना चाहिए। सन्तों में भगवान् का विशेष प्रकाश रहता है। उनकी कृपा होने से भगवत्-कृपा का द्वार खुल जाता है।"[२५] यह स्वयं उन्हीं के जीवन का सत्य था।

श्रीरामकृष्ण के अन्य त्यागी शिष्यों के ही समान स्वामी अद्भुतानन्द भी अद्वितीय थे। इतना ही नहीं, वे तो आश्चर्यों के आश्चर्य थे, क्योंकि उन्होंने श्रीरामकृष्ण के स्पर्शमात्र से सर्वोच्च ज्ञान को पा लिया था। उनके एक गुरुभाई स्वामी तुरीयानन्द ने कहा था, "हममें से बहुतों को ज्ञान के मटमैले जल में से होकर जाना पड़ा, पर लाटू तो हनुमानजी की तरह उस पर से छलाँग लगाकर चला गया।"[२६] श्रीरामकृष्ण के एक दूसरे आश्चर्य, गिरीश चन्द्र घोष ने एक बार लाटू के बारे में कहा था, "चन्द्रमा में भी दाग हैं, पर लाटू तो एकदम खरा सोना है। मैंने इसके पहले कभी ऐसा बेदाग चरित्र नहीं देखा। लाटू के सत्संग से मनुष्य पवित्र बन जाते हैं।"[२७]

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "लाटू ने जिस प्रकार की परिस्थिति में से आकर थोड़े ही दिनों में आध्यात्मिक क्षेत्र में जितनी प्रगति कर ली है, और हम लोगों ने जिस अवस्था से जितनी प्रगति की है, इन दोनों की तुलना करने पर पता चलता है कि वह हम लोगों की अपेक्षा बहुत महान् है।... केवल ध्यान-धारणा की सहायता से ही लाटू अपना मस्तिष्क ठीक रखकर अति निम्न अवस्था से उच्चतम आध्यात्मिक सम्पदा का अधिकारी हुआ है, इससे उसकी अन्तर्निहित शक्ति तथा उसके प्रति ठाकुर की असीम कृपा का परिचय मिलता है।"[२८]

लाटू महाराज ने अपने जीवन का अन्तिम पर्व वाराणसी में बिताया था। वहाँ वे शान्ति तथा आनन्द बिखेरते, भक्तों को दिव्यता का पथ प्रदर्शित करते हुए और अपने जीवन के माध्यम से श्रीरामकृष्ण की महिमा को प्रकट करते रहते। अपने गुरु के जीवन और उपदेशों की सही धारणा के कारण उनका उज्ज्वल जीवन उनके सन्देशों के प्रचार का बहुत सशक्त माध्यम बन गया था। यद्यपि श्रीरामकृष्ण के सभी शिष्य अपने आप में अनूठे थे, पर स्वामी अद्भुतानन्द को भक्ति के दास्य भाव का, जिसमें श्रीरामकृष्ण ने स्वयं पूर्णत्व प्राप्त किया था, एक आदर्श उदाहरण माना जा सकता है।

जीवन की अन्तिम घड़ी आने पर वे पूरी तौर से अन्तर्मुखी बन गये और उनकी दृष्टि भ्रूमध्य में स्थिर हो गयी। २० अप्रैल, १९२० को वे महासमाधि में लीन हुए। उनका मुख -मण्डल ज्ञान और प्रभा की ज्योति से ऐसा आलोकित हो उठा, जो वर्णनातीत था; मानो वे अपने परिचितों से अन्तिम विदा ले रहे हों। उनके जीवन के अन्तिम कुछ क्षण उस आतिशी राकेट के समान था, जो कई रंगों की छटा बिखेरता हुआ फूट जाता है।

स्वामी अद्भुतानन्द की महासमाधि पर रामकृष्ण संघ की मासिक पत्रिका 'प्रबुद्ध भारत' ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा था "उनकी मृत्यु विलक्षण थी और मानो यह उनकी जीवन भर की आध्यात्मिकता तथा अनुभूतियों का एक भव्य पटाक्षेप था।"[२९]

❑❑❑

२४. कनवर्सेसन्स विथ ए सेंट, (वेदान्त ऐंड द वेस्ट, हालीवुड), मई १९६७, पृ. ३८; **२५.** 'अद्भुतानन्द प्रसंग' (बँगला), स्वामी सिद्धानन्द, बंगाब्द १३६७, पृ. १५; **२६.** द लाइफ ऑफ रामकृष्ण, रोलाँ रोलाँ, १९७०, पृ. १९४-५ ; **२७.** अद्भुत सन्त, पृ. ३२९; **२८.** भक्तमालिका, भाग १, पृ. ३८६; **२९.** 'प्रबुद्ध भारत' (आंग्ल मासिक), मई १९२०, पृ. ११९

मातृ-स्मृति

जयगोविंद शर्मा

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

मुझे ठीक याद नहीं १९०१ या १९०२ में ढाका के पास गेण्डारिया गाँव गया था। विजयकृष्ण गोस्वामी के पुत्र योगविनोद गोस्वामी उस समय वहाँ आये हुए थे। मेरे आग्रह करने पर उन्होंने मुझे विष्णुमंत्र की दीक्षा दी। सोचा था इससे मन में शान्ति मिलेगी, पर वैसा नहीं हुआ। उसके पूर्व १८९९ ई. में जब मैं श्रीहट्ट के बेगमपुर ग्राम में शरतचन्द्र चौधरी द्वारा स्थापित मध्य अँग्रेजी विद्यालय का प्रधान शिक्षक था, तभी मैंने जीवन में प्रथम बार साधुसंग किया। श्रीरामकृष्ण के उन शिष्य का नाम तो अब याद नहीं है, पर उसके बाद से ही मन में श्रीरामकृष्ण के उपदेश-ग्रन्थों को खरीदकर पढ़ने का विशेष आग्रह जागा और उसी समय मैंने प्रथम बार उनका चित्र प्राप्त किया।

१९१४ ई. के जून या जुलाई में एक दिन मैं कलकत्ते के कालीघाट में कालीजी के दर्शन करने गया और दर्शन के बाद पुरोहित की अनुमति के बिना ही मूर्ति का स्पर्श करने पर क्रुद्ध पण्डे ने मुझे मारा और कन्धे पर नाखून से खरोच दिया। अगले दिन उद्बोधन-कार्यालय में माँ का दर्शन करने गया। माँ का यही मेरा प्रथम दर्शन था। माँ के श्रीचरणों के दर्शन की अनुमति की प्रार्थना करने पर अनुमति मिल गयी। ऊपर जाकर देखा, माँ आपाद-मस्तक वस्त्रावृत होकर खाट पर बैठी हैं। उनके अनावृत चरण मानो हिल रहे थे। चरण स्पर्श किये बिना माँ को प्रणाम करते समय मैंने उनके बाँये पाँव के अंगूठे पर धीरे से चार आने का एक सिक्का रख दिया। सिक्का मानो शून्य में उछलकर अपने आप जमीन पर आ गिरा। संकोच से मैं बिना कुछ कहे, बिना उनका चरण स्पर्श किये साष्टांग प्रणाम करके चला आया।

अगले दिन मेरे वाराणसी जाने की बात थी। साथ में मेरी विधवा माता, पत्नी, पाँच वर्ष की पुत्री, सवा साल का पुत्र और हाल ही में लापता हुए छोटे भाई की बालिका वधू थी। निश्चित हुआ कि उद्बोधन में माँ को प्रणाम करके रवाना होंगे। छोटी-सी प्रणामी और कुछ सामान के साथ हम लोगों के उद्बोधन पहुँचते ही मेरी माँ और अन्य लोग उपर चले गये, मेरा बुलावा नहीं आया। काफी समय बीत जाने पर मन में बेचैनी प्रतीत होने लगी। मैंने भी माँ को प्रणाम करने के लिए ऊपर जाने की अनुमति मांगी। अनुमति मिली। ऊपर जाकर पिछले दिन की सारी अतृप्ति मिट गयी। माँ के अनावृत मुखमणडल का दर्शन मिला! स्नेहपूर्ण दृष्टि! पूर्व-परिचित के समान मधुर व्यवहार! मैंने पूछा, "मेरे भाई को क्या हुआ, बताइये तो?" माँ बोली, "लगता है कहीं संन्यासी आदि हो गया है।" इसके बाद हम सभी उन्हें दण्डवत प्रणाम करके नीचे चले आये।

बाद में अपनी पत्नी के मुख से और भी बहुत कुछ सुना। उन लोगों ने जब ऊपर जाकर माँ का दर्शन किया, तो वे एक वृद्धा जैसी थी, परन्तु जब मैं पहुँचा, तो वही मूर्ति मानो एक प्रौढ़ा नारी में परिवर्तित हो गयी। ऊपर पहुँचकर मैंने माँ को वृद्धा के रूप में नहीं देखा। मेरा पुत्र किसी भी प्रकार माँ को प्रणाम नहीं कर रहा था। गर्दन टेड़ी करते माँ को देखकर मुँह को घुमा ले रहा था। उसकी माँ बार-बार उससे जबरन प्रणाम कराने की चेष्टा कर रही थी। माँ बोलीं, "रहने दो बेटी, पाँवों की धूल लेकर उसके सिर पर लगा दो, उसी से ही होगा।" मेरी पत्नी द्वारा माँ की चरणधूलि लेकर उसके सिर पर लगाते ही दृश्य बदल गया। वह बारम्बार माँ को दण्डवत प्रणाम करने लगा, रुक ही नहीं रहा था। उसकी माँ जितना ही कहती – हो गया, रहने दो, तो भी वह नहीं रुकता था। आखिरकार श्रीमाँ ने कहा, "रहने दे हो गया।" उनके इतना कहते ही लड़का शान्त हो गया।

तीसरी बार माँ का दर्शन जयरामबाटी में हुआ। १९१६ ई. में स्वामी सारदानन्द जी की अनुमति लेकर एक परिचित सज्जन के साथ जनवरी में जयरामबाटी गया। वे सज्जन एक युवा ब्राह्मण थे। उनका जयरामबाटी के पास ही घर था। वे स्वयं माँ के घर तक नहीं गये। दूर से मुझे दिखा दिया। मैं कुली के साथ स्वयं ही माँ के पास पहुँचा। तब मेरा मन अशान्त था। जो दीक्षा ली थी, वह व्यर्थ लग रही थी। मैंने माँ से सारी बातें कहीं। माँ ने कृपा करके मुझे पुन: दीक्षा दी। अब मेरा मन शान्त है। भटकना बन्द हो गया है। साधुओं की खोज नहीं करता। सोचता हूँ – मन अपने आप में मग्न रहो, किसी के घर मत जाओ।"

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२१९. कबीर सोई पीर है, जो जानै पर पीर

महात्मा गांधी से एक बार किसी ने पूछा, "क्या आपने किसी व्यक्ति को गुरु बनाया है?" बापू बोले, "गुरु तो नहीं बनाया, मगर जीवन में एक व्यक्ति से मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ हूँ। इस कारण वे मेरे लिये गुरु के ही समान हैं। वे हैं – रायचन्द भाई।" – "क्या आप उनके बारे में बताएँगे?" गाँधीजी बोले – रायचन्द भाई बम्बई में मेरे परिचित जवाहरात के व्यापारी थे। उन्होंने एक व्यापारी से सौदा किया। तय हुआ कि वह व्यापारी अमुक तारीख को अमुक भाव में निश्चित जवाहरात रायचन्द भाई को लाकर देगा। यह सौदा लिखित रूप में हुआ था। संयोग से जवाहरात के भाव इतने बढ़ गये कि वह व्यापारी यदि तय सौदे के अनुसार जवाहरात उक्त तारीख को रायचन्द भाई को देता, तो उसका दिवाला निकल जाता, उसका घर तक नीलाम हो जाता और वह कंगाल हो जाता। रायचन्द भाई को जवाहरात के वर्तमान बाजार भाव मालूम हुए, तो वे व्यापारी की दुकान पर जा पहुँचे। उन्हें आया देख व्यापारी बेहद घबरा गया। बोला, "आपने आने का कष्ट क्यों किया? मैं स्वयं भी आपको जवाहरात देने के बारे में चिन्तित हूँ। आपको वचन देता हूँ कि ज्योंही मेरी हालत सुधरेगी, मैं आपको घाटा नहीं होने दूँगा। जितना निश्चित हुआ है, उतने जवाहरात आपको जरूर दूँगा।" रायचंद भाई ने कहा, "मित्र, तुमने ठीक कहा कि तुम्हारे समान मैं भी चिन्तित हूँ। दोनों की चिन्ता का कारण एक ही है कि हमने सौदा लिखित रूप में किया है। यदि लिखित कागज ही न रहे, तो फिर चिन्ता किस बात की? न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।" उन्होंने व्यापारी से वह लिखित कागज माँगा। पहले तो व्यापारी ने कागज देने में आनाकानी की। वह नहीं चाहता था कि रायचन्द भाई होने वाले अत्यधिक लाभ को स्वीकार न करें। पर काफी आग्रह के बाद उसने वह पर्ची रायचन्द भाई को वापस कर दी। उन्होंने तुरन्त उस पर्ची के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। उन्होंने कहा, "तुम्हारी परिस्थिति मुझसे छिपी नहीं है। मैं तुमसे दूध पी सकता हूँ, तुम्हारा खून नहीं। तुम जब चाहो, तब जवाहरात लौटाना।" व्यापारी रायचन्द भाई की उदारता से अभिभूत हो उनके चरणों पर गिर पड़ा और बोला, "आप मेरे लिये मनुष्य नहीं, सचमुच देवता है।" ऐसा देवतुल्य पुरुष क्या मेरे लिये गुरु के समान नहीं हो सकता?"

२२०. प्रभु करते जिन पर कृपा

एक बार कुछ सिपाही सन्त हसन बासरी को चोर समझ कर उनका पीछा करने लगे। भागकर वे सन्त हबीब आजमी के प्रार्थनागृह में जाकर छिप गये। सिपाही हबीब आजमी के पास आये और उन्होंने पूछा, "क्या आपने किसी चोर को देखा है?" – "हाँ, हसन बासरी मेरे इबादत-खाने में है। आप वहाँ जा सकते हैं।" सिपाही अन्दर गये, मगर वहाँ उन्हें कोई दिखायी नहीं दिया। बाहर आकर उन्होंने सन्त से कहा – पीर होकर भी आप झूठ बोलते हैं। हबीब बोले, "मैने झूठ नहीं कहा, आपने अन्दर ठीक से नहीं देखा। फिर जाने पर वे आपको दिखाई देंगे।" सिपाही दुबारा इबादत-खाने में गये। मगर इस बार भी उन्हें अन्दर कोई दिखाई नहीं दिया। वे लोग गुस्से से बड़बड़ाते हुए वापस लौट गये।

थोड़ी देर बाद बासरी बाहर आए और आजमी से पूछा, "आपने सिपाहियों को मेरे इबादतखाने में छिपे होने की बात क्यों बताई?" हबीब ने उत्तर दिया, "जो सच था, मैंने वही बयान किया। यदि सच न बोलता, तो आप उन्हें जरूर दीख जाते और गिरफ्तार हो जाते। मेरे सच बोलने की वजह से ही आप उनकी गिरफ्त में नहीं आए। मगर पहले यह बताइये कि आप अन्दर कर क्या रहे थे कि आप उन्हें दिखाई नहीं दिये।" हसन ने बताया, "इबादत-खाने को देखकर मेंने आयतुल-कुरसी और दो आयतें पढ़ी।" हबीब ने कहा, "बस, इसी का नतीजा है कि खुदा ने अपने बंदे को संकट में देखा और उसकी हिफाजत के लिये आ पहुँचा। उनकी मौजदूगी में भला सिपाही आपको कैसे देख सकते थे!" ❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

१९१८ ई. में मैंने चौथी बार माँ का दर्शन किया। उस समय माँ अस्वस्थ थीं। मेरे साथ ज्यादा बातचीत नहीं हुई। केवल इतना ही पूछा, 'तुम पहले एक बार आये थे न?" मैंने कहा, "हाँ माँ, आया था।" लगा कि माँ की स्मृति से मेरा लोप नहीं हुआ है, क्योंकि इतने शिष्य-शिष्याओं के बीच सभी को याद रखना असम्भव जैसा है। मैं इतना कीर्तिमान भी नहीं कि माँ मुझे विशेष रूप से याद रखें।

माँ के देहत्याग के कई वर्ष बाद मैं नया 'मातृ-मन्दिर' देखने जयरामबाटी गया था। तब स्वामी परमेश्वरानन्द ने मुझे तालपत्र पर मुद्रित चण्डी पढ़ने को कहा। मैंने उनके आदेश का पालन करके हृदय में अपार आनन्द प्राप्त किया था।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी बोधानन्द (१)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

कक्षा शुरू होने की घण्टी तब भी बजी नहीं थी। स्कूल के बच्चे दौड़ रहे थे और खेल रहे थे – उनके प्राणवन्त कोलाहल से विद्यालय-भवन मुखरित हो रहा था। दूसरी मंजिल पर स्थित चौथी कक्षा के कमरे की खिड़की पर खड़ा एक बालक एकटक बाहर की ओर देख रहा था। चपल-स्वभाव बालक के दोनों नेत्र श्रद्धा तथा विस्मय के भाव से स्थिर तथा शान्त थे। परन्तु वह किसे देखकर इतना मुग्ध हुआ था? प्रधान शिक्षक महाशय विद्यालय में प्रवेश कर रहे थे। उनके गोरे शरीर पर काले रंग का कोट और कन्धे पर सफेद चादर, एक हाथ में छाता तथा दूसरे में कोई पुस्तक थी; और खुले हुए दोनों नेत्रों में विद्युत की झलक थी। उनके चेहरे पर जैसा तेज तथा माधुर्य था, वैसे ही उनके चलने में असीम दृढ़ता तथा सौन्दर्य व्यक्त हो रहा था। इन सौम्य-दर्शन युवा प्रधान शिक्षक का हर कदम बालक को आकृष्ट कर रहा था। इसीलिये वह अपलक नेत्रों से उन्हीं की ओर देख रहा था। केवल एक दिन नहीं, वह प्रतिदिन ऐसा ही किया करता था।

प्रधान शिक्षक विद्यालय में नये-नये थे, केवल कुछ दिनों पूर्व ही आये थे, परन्तु बालक प्रतिदिन उनकी बाट जोहता रहता था। वे केवल उच्च श्रेणी के छात्रों को ही पढ़ाते थे, अत: उसे उनके पाठ सुनने का अवसर नहीं मिलता था। परन्तु इन शिक्षक महोदय को वह जितना ही देखता, उतना ही सोचता कि उनके जैसे ज्योतिर्मय नेत्र क्या मनुष्य के हो सकते हैं? निश्चय ही ये कोई असाधारण व्यक्ति हैं।

बालक का नाम हरिपद चट्टोपाध्याय था और वह बहूबाजार के मेट्रोपॉलिटन स्कूल का छात्र था। उसे क्या पता था कि जीवन की इस सुबह में ही वह जिन आत्म-विस्मृत शिक्षक के नेत्रों से विमुग्ध हुआ था, विधि के विधान से उसे भविष्य में इन्हीं महान् शिक्षक के चरणों में सदा-सर्वदा के लिये आश्रय लेना होगा ! हरिपद के बचपन के आदर्श – विद्यालय के ये शिक्षक ही परवर्ती काल में विश्व के सर्वोच्च धर्माचार्य स्वामी विवेकानन्द हुए और उस दिन का वह सुबोध छात्र ही उनके शिष्य स्वामी बोधानन्द के रूप में स्मरणीय हुआ।

हरिपद का जन्म पश्चिमी बंगाल के हुगली जिले के एक गाँव में १८७० ई. के मई महीने में अक्षय तृतीया के दिन हुआ था। उनके पिता शिवनारायण चट्टोपाध्याय न्यायशास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् थे और अपने धर्म में दृढ़ निष्ठा रखते थे। वे प्राचीन ब्राह्मण विद्वानों के आचार-विचारों को खूब मानते थे। परिधान के रूप में उन्होंने आजीवन सादी धोती तथा चादर का ही उपयोग किया था। शिवनारायण के छोटे भाई का नाम वेणीमाधव था, जिनके पुत्र खगेन्द्रनाथ ही स्वामी विवेकानन्द के शिष्य स्वामी विमलानन्द के नाम से रामकृष्ण संघ में सुपरिचित हुए। हरिपद की माता मोक्षदा देवी अत्यन्त कर्मकुशल तथा धर्मप्राण स्वभाव की थीं। हरिपद के जीवन-गठन में उनकी माता का असीम योगदान था। अपने चचेरे भाई खगेन्द्रनाथ का घनिष्ठ साहचर्य भी हरिपद के चारित्रिक विकास का एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटक है। आस-पड़ोस के सभी लोग दोनों भाइयों के चारित्रिक माधुर्य पर मुग्ध थे। उनके दादा कालाचाँद चट्टोपाध्याय एक प्रसिद्ध व्यक्ति थे। गाँव के एक वृद्ध ने एक बार कालाचाँद बाबू को उनके इन दो नातियों के विषय में कहा था, "खगेन और हरिपद कभी महिलाओं के मुख की ओर नहीं देखते।"

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा स्थापित मेट्रोपॉलिटन स्कूल की बहूबाजार शाखा में ही हरिपद की पढ़ाई आरम्भ हुई। १८८५ ई. के मध्यकाल में इस विद्यालय के इतिहास में एक अद्भुत तथा नवीन घटना हुई – स्वामी विवेकानन्द के नाम से विश्वविख्यात होनेवाले श्री नरेन्द्रनाथ दत्त उन दिनों वहाँ प्रधान अध्यापक का कार्यभार सँभाल रहे थे। उस वर्ष की मई से लेकर केवल तीन-चार महीने ही उन्होंने उक्त विद्यालय को सेवा दी थी।* हरिपद उन दिनों कलकत्ते में अपने चाचा के घर में रहकर इस विद्यालय की चौथी कक्षा में अध्ययन कर रहे थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हरिपद के जीवन में यह भी एक बहुत बड़ा सार्थक संयोग था। लेख के प्रारम्भ में ही इसका उल्लेख हो चुका है।

परन्तु बाद में हरिपद ने जगतवल्लभपुर के उच्च विद्यालय में पढ़ाई की और वहीं से १८९० ई. में प्रवेशिका परीक्षा

* द्र. श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, भाग २, सं. २००८, दसवाँ अध्याय, पृ. ९०३; अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के अक्तूबर १९३४ अंक, तथा बँगला मासिक उद्बोधन के अग्रहायण १३५७ (बंगाब्द) में प्रकाशित स्वामी बोधानन्द की स्मृतिकथा में इस समय का भिन्न रूप में उल्लेख है – उद्बोधन के अनुसार १८८६ ई. में, पर प्रबुद्ध-भारत के अनुसार १८८७ ई. में उन्होंने यह शिक्षकता की थी।

में उत्तीर्ण हुए। छात्र के रूप में वे असाधारण मेधावी थे। कहते हैं कि विद्यालय में पढ़ते समय ही उन्होंने चेम्बर्स का पूरा अंग्रेजी शब्दकोश कण्ठस्थ कर डाला था। एक बार उन्होंने अपने चचेरे भाई फणीन्द्रनाथ के समक्ष प्राय: पूरा शब्दकोष ही अपनी याददाश्त से सुना दिया था। प्रवेशिका परीक्षा पास करने के बाद जब उन्होंने रिपन कॉलेज में अध्ययन करना शुरू किया, वस्तुत: तभी से उनके आध्यात्मिक जीवन की गति एक सुनिर्दिष्ट लक्ष्य की ओर नियोजित होने लगी। शुद्धानन्द, विरजानन्द, आत्मानन्द, प्रकाशानन्द आदि स्वामीजी के विशिष्ट संन्यासी शिष्यगण अपने पूर्वाश्रम में उनके सहपाठी तथा धर्मबन्धु थे। उन दिनों इन चौदह-पन्द्रह छात्रों ने मिलकर प्रगाढ़ प्रीति के साथ एक टोली का गठन किया था। इन तरुणों का मिलन उनके भाई खगेन्द्र (विमलानन्द) अथवा कालीकृष्ण (विरजानन्द) के घर पर हुआ करता था। यह युवासंघ नित्य ही सच्चर्चा, भगवत्कथा, शास्त्रपाठ, साधु-दर्शन, भजन-कीर्तन आदि का अनुष्ठान किया करता था। उनकी धर्मचर्चा का एक अंग था – भिक्षा माँगकर चीजें इकट्ठी करके साधुओं की सेवा करना। भिक्षा में प्राप्त सब्जी, चावल आदि को कालीकृष्ण के कोचमैन के हाथों बेचकर उससे कुछ पैसे जमाकर विभिन्न सत्कार्यों में खर्च किया जाता था। एक बार हरिपद आदि तीन-चार युवक साधुसेवा के लिये पैसों की याचना करने दया के सागर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के बादुड़बागान स्थित घर में गये थे। युवकों ने यथायोग्य प्रणाम करने के बाद जब अपना अभिप्राय व्यक्त किया, तो उस पर विद्यासागर ने नाराजगी के साथ कहा था, "जब तुम लोग स्वयं ही धन कमाने लगोगे, तब अपने उपार्जित धन से साधुओं को भोजन कराना। मैं इसके लिये एक पैसा भी नहीं दूँगा।" सम्भवत: विद्यासागर महाशय ने सोचा था कि ये लड़के पढ़ाई-लिखाई से बचने के लिये ही धर्म के नाम पर इन सब गतिविधियों में लगे हैं। अस्तु। इससे हरिपद के भाव में बिन्दु मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ।

हरिपद एक दिन जब गोलदिघी सरोवर के किनारे टहल रहे थे, तभी कोई उनके हाथ में एक विज्ञप्ति दे गया, जिससे पता चला कि काँकुड़गाछी के योगोद्यान में श्रीरामकृष्ण के नित्य आविर्भाव का उत्सव होनेवाला है। योगोद्यान का पता मिलते ही वे एक दिन अकेले ही वहाँ चले गये, जहाँ उन्हें भक्तप्रवर रामचन्द्र दत्त तथा मनोमोहन मित्र के साथ परिचित होने का सौभाग्य मिला। रामबाबू के मुख से श्रीरामकृष्ण की बातें सुनकर हरिपद को मानो सचमुच ही स्वर्गिक सुख का बोध हुआ था। इतने दिनों तक विभिन्न सूत्रों से श्रीरामकृष्ण के बारे में सुनने के बावजूद इतने स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष रूप से उनके बारे में जानने का उन्हें कोई मौका नहीं मिला था। रामबाबू ने हरिपद से पूछा था, "अच्छा, परमहंस देव के विषय में आपकी क्या धारणा है?" रामबाबू के मुख से 'आप' सम्बोधन सुनकर हरिपद संकुचित हो उठे और उन्होंने रामबाबू से अनुरोध किया कि वे उन्हें इस प्रकार सम्बोधित न करें। उत्तर में हरिपद ने सीधे कहा, "परमहंस देव एक सिद्ध पुरुष थे।" बालक की यह उक्ति सुनकर रामबाबू दृढ़तापूर्वक बोले, "वे केवल सिद्ध पुरुष ही नहीं, अवतार हैं।" उन्होंने अनेक घटनाओं तथा अनुभवों का उल्लेख करते हुए हरिपद के जिज्ञासु हृदय में यह भाव पक्का करने का प्रयास किया। हरिपद द्वारा परवर्ती काल में लिखित स्मृतिकथा से पता चलता है कि उस दिन रामबाबू ने उन्हें और भी कहा था कि सिद्ध पुरुष केवल एक ही मार्ग को अपनाकर उसी के अनुसार अपना पूरा जीवन बिताते हैं तथा अन्तिम अवस्था में सिद्धि प्राप्त करते हैं। परन्तु परमहंस देव ने विश्व के प्रमुख धर्मों की साधना-पद्धतियों का नियमित रूप से अनुष्ठान करके सभी में सिद्धि प्राप्त की और सबके भीतर एक ही सत्य की अनुभूति की। वे कहा करते, "मत पथ।" अर्थात् सभी धर्म एक ही धर्म में स्थित हैं और उनका लक्ष्य भी एक ही है। द्वापर युग में श्रीकृष्ण के समान ही इस युग में धर्म-समन्वय के श्रेष्ठ गुरु श्रीरामकृष्ण हैं। वे ही युगावतार हैं।

उस दिन रामबाबू ने श्रीरामकृष्ण के जीवन-वृत्तान्त पर लिखित अपनी पुस्तक की एक प्रति भी हरिपद को उपहार के रूप में दी थी और काफी रात हो जाने के कारण उन्हें अपनी गाड़ी में बिठाकर कलकत्ते पहुँचा दिया था। श्रीरामकृष्ण के एक साक्षात् शिष्य का ऐसा आत्मीयतापूर्ण व्यवहार देखकर तथा उनसे युगावतार की बातें सुनकर हरिपद को मानो अन्धकार में पथ मिला। वे आनन्दविभोर हो उठे। जब उन्होंने अपने मित्रों को सारी बातें बतायीं, तो वे भी काँकुड़गाछी जाकर रामबाबू का संग पाकर उत्साहित हो उठे। उस दिन हरिपद के आने में विलम्ब होने पर मित्रों ने कुछ ऐसी ही आशा की थी और एक साथ खगेन के घर में बैठकर उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहे थे। हरिपद के लौटने पर उस दिन सारी रात श्रीरामकृष्ण के विषय में ही बातें हुई थीं। अगले दिन सबने चन्दा इकट्ठा किया और भिक्षालब्ध चावल को बेचकर आठ-दस रुपये एकत्र किये। उन रुपयों से कुछ अच्छे आम तथा मिठाइयाँ लेकर हरिपद अपने मित्रों के साथ पुन: काँकुड़गाछी के योगोद्यान में गये थे। इस प्रकार भक्तप्रवर रामचन्द्र दत्त के साथ उन लोगों की घनिष्ठता में क्रमश: वृद्धि होने लगी और वे लोग बारम्बार योगोद्यान जाने लगे तथा वहाँ के छोटे-मोटे कार्यों में सहयोग करने लगे।

रामबाबू का वैष्णव भक्तों के समान भाव था। एक बार हरिपद ने बालसुलभ भाव से कह डाला, "श्रीरामकृष्ण को तो बहुत-से माझी-मल्लाहों ने भी देखा है! उन लोगों का क्या हुआ?" रामबाबू यह सुनकर बड़े नाराज होकर बोले,

"अरे बुद्धू, तू ठाकुर के द्वार का भिक्षुक है; और कहता है कि उन्हें माझी-मल्लाहों ने देखा है, तो उनका क्या हुआ? यह निश्चित जानना कि जिन माझी-मल्लाहों ने पुण्यवश उनकी श्रीमूर्ति का दर्शन किया है, वे लोग तुम्हारी अपेक्षा बहुत अधिक भाग्यवान हैं।" हरिपद ने लज्जा तथा खेद का अनुभव करते हुए अपनी उस उक्ति के लिये रामबाबू के पाँव पकड़कर क्षमा याचना की थी। बाद में इस घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है, "काफी काल बाद मेरी समझ में आया कि जिस व्यक्ति ने अनजाने भी श्रीरामकृष्ण का एक बार भी दर्शन कर लिया था, वह महा-भाग्यवान है। मैं तो उसके चरणों का स्पर्श करने के भी योग्य नहीं हूँ।"

'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ के लेखक भक्तश्रेष्ठ महेन्द्रनाथ गुप्त उन दिनों रिपन कॉलेज के एक लोकप्रिय प्राध्यापक थे। हरिपद तथा उनके संगीगण भगवान श्रीरामकृष्ण के अति प्रिय 'मास्टर' का सहसा आविष्कार करके उनके पूत सान्निध्य में आने का सौभाग्य पाकर धन्य हो गये थे। एक दिन मास्टर महाशय से श्रीरामकृष्ण के बारे में पूछने पर वे अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उठकर खड़े हो गये। बालक हरिपद ने यही पूछा था कि वे रामबाबू के उद्यान में आयोजित श्रीरामकृष्ण के तिरोभाव-उत्सव में क्यों नहीं गये थे? मास्टर महाशय ने बड़ी विनम्र भाषा में उत्तर दिया था, "श्रीरामकृष्ण का तिरोभाव नहीं हुआ है; वे नित्य विराजमान हैं।" इस एक ही उक्ति के द्वारा हरिपद को मानो दिव्य ज्ञान की प्राप्ति हुई। वराहनगर मठ में श्रीरामकृष्ण के त्यागी शिष्यगण लोकनेत्रों के व्यवधान से दूर रहकर वास्तविक रूप से काम-कांचन को दूर रखते हुए ठाकुर के भाव में अपने-अपने जीवन का निर्माण कर रहे हैं – यह समाचार हरिपद तथा उनके मित्रों को पहली बार मास्टर महाशय के ही मुख से सुनने को मिला था। तरुणों को श्रीरामकृष्ण के इन त्यागी शिष्यों के पास भेजने के लिये वे उन्हें खूब उत्साहित किया करते थे। एक दिन उन्होंने हरिपद आदि छात्रों से कहा था, "देखो, संन्यासी शिष्यगण फजली, लँगड़ा के समान उत्तम श्रेणी के आम हैं, परन्तु अभी पके नहीं हैं; जबकि गृही शिष्यगण मानो पके हुए, परन्तु खट्टी जाति के आम हैं।"

मास्टर महाशय के आदेश पर हरिपद आखिरकार एक दिन अपने दो-एक संगियों के साथ वराहनगर मठ जा पहुँचे। मठ में उन लोगों ने सर्वप्रथम स्वामी रामकृष्णानन्दजी का ही दर्शन किया। श्रीरामकृष्ण के भाव-विग्रह इन संन्यासी के दर्शन तथा साहचर्य से इतने दिनों बाद हरिपद की जीवन-गति को उपयुक्त दिशा मिली। वराहनगर मठ का आकर्षण उनके लिये क्रमश: अदम्य होता गया। हरिपद तथा उनके अन्य मित्रों ने बारम्बार मठ में आना-जाना आरम्भ कर दिया।

हरिपद एक बार चैत्र संक्रान्ति के दिन मठ में गये थे। स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी उन्हें देखते ही बोल उठे, "ओ हरिपद, आज मैं गाँव में भिक्षा माँगने जाऊँगा। तुम भी मेरे साथ चलोगे?" हरिपद ने भी नि:संकोच हामी भरी। सहसा त्रिगुणातीतानन्दजी ने उनके हाथ में एक गेरुआ वस्त्र देकर उसे पहन लेने को और अपनी सफेद धोती की एक पोटली बनाकर एक कोने में रख देने का आदेश दिया। हरिपद तदनुसार गैरिक वस्त्र पहनकर त्रिगुणातीतानन्दजी के साथ बाहर निकले और सींथी अंचल के पाँच-सात घरों में जाकर भिक्षा माँगी। उस दिन मार्ग में किसी परिचित व्यक्ति ने उन्हें गेरुआ वस्त्र पहनकर एक संन्यासी के साथ घूमते देखकर जाकर उनके घर में इसकी सूचना दे दी थी। घर के लोग सुनकर दुश्चिन्ता में पड़ गये कि इतना अच्छा लड़का है, पर संन्यासियों के चक्कर में पड़कर कहीं संसार तो नहीं छोड़ देगा। अस्तु, जब रात में वे अपनी सफेद धोती पहने ही घर लौटे, तो परिवार के लोगों ने चैन की साँस ली।

१८९० से १८९७ ई. तक लगातार कई वर्षों तक हरिपद का इसी प्रकार पूर्ण उद्यम के साथ मठ में आवागमन और साधन-भजन, ठाकुर-सेवा तथा साधुसंग चलता रहा। इसके प्रथम दो-तीन वर्षों के दौरान उनका स्वामीजी, ब्रह्मानन्दजी तथा हरि महाराज के सिवा श्रीरामकृष्ण के प्राय: सभी संन्यासी शिष्यों के संगलाभ का सौभाग्य हुआ था। बीच-बीच में वे कॉलेज से गायब होकर कुछ दिन मठ में ही निवास करते। एक बार इसी प्रकार जब वे पढ़ाई-लिखाई छोड़कर दो-तीन दिन मठ में ठहरे हुए थे, तो रामकृष्णानन्दजी ने इस पर उन्हें डाँटा था। पर वैराग्यवान युवक का मठ में रहने की तीव्र इच्छा तथा इसके लिये उसे रोते देखकर आखिरकार उन्होंने उसे एक दिन और मठ में रहने की अनुमति दे दी थी। ठीक उसी दिन पुत्र की खोज करते हुए पिता भी मठ में आ पहुँचे थे। हरिपद के पिता अत्यन्त नैष्ठिक ब्राह्मण थे। मठ में आकर रामकृष्णानन्दजी की बातचीत तथा आचरण से उनके स्नेहमय पिता इतने मुग्ध हुए कि वे स्वयं भी मठ के प्रति आकर्षण का बोध करने लगे और बाद में वे अपने पुत्र से ही मठ के संन्यासियों का समाचार पूछते रहते थे।

काँकुड़गाछी के योगोद्यान के साथ हरिपद की घनिष्ठता की बात का हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं। हरिपद तथा उनके मित्रगण बीच-बीच में वहाँ जाकर बारी-बारी से ठाकुर-सेवा तथा भोग पकाने आदि का काम किया करते थे। जिस दिन माँ सारदा देवी ने योगोद्यान में पदार्पण किया, उस दिन हरिपद ने वहाँ उनका दर्शन करके स्वयं को धन्य माना था। योगोद्यान में आवागमन के दौरान ही वीरभक्त गिरीशचन्द्र के साथ भी हरिपद का प्रथम परिचय हुआ।

महाकवि के साथ भेंट के पहले दिन ही हरिपद तथा उनके मित्रों ने उनके समक्ष श्रीरामकृष्ण का प्रसंग उठाया। गिरीश बाबू ने उस दिन जो कुछ कहा था, वह हरिपद के मानस-पटल पर चिर काल के लिये मुद्रित हो गया था। भक्तभैरव ने आनन्दपूर्वक कहा था, "श्रीरामकृष्ण की कृपा पाने के पूर्व मैं **गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः** आदि श्लोकों को केवल सुनता भर था, परन्तु उनकी कृपा पाने के बाद मुझे उनके अर्थ का बोध हुआ है।" इसके बाद उन्हें अनेकों बार गिरीश बाबू के साथ खूब घनिष्ठतापूर्वक मिलने का सुयोग प्राप्त हुआ था; विशेषकर तब जब उन्होंने गिरीश बाबू के साथ जयरामबाटी में पन्द्रह दिनों तक माँ के सान्निध्य में निवास किया था। इसकी स्मृति उनके चित्त में सदैव के लिये अंकित हो गयी थी।

१८९१-९२ ई. में स्वामी निरंजनानन्द तथा गिरीश बाबू के साथ हरिपद को जयरामबाटी तीर्थ के दर्शन का पहली बार सुयोग मिला। इस यात्रा में स्वामी सुबोधानन्द, कालीकृष्ण (बाद में स्वामी विरजानन्द) तथा कानाई (बाद में स्वामी निर्भयानन्द) भी उनके संगी थे। जयरामबाटी के मार्ग में उन लोगों ने श्रीधाम कामारपुकुर का भी दर्शन किया था। जयरामबाटी में दो सप्ताह माँ की स्नेहछाया में निवास करके हरिपद ने जीवन में सचमुच ही स्वर्गिक आनन्द का अनुभव किया था। लगता है कि श्रीमाँ ने इसी बार उन्हें महामंत्र की दीक्षा देकर उनका मानव-जीवन सार्थक कर दिया था। इस काल की स्मृति के विषय में अपने जीवन के अन्तिम पर्व में उन्होंने माँ की अलौकिक करुणा के विषय में कहा था, "उनका स्नेह अकृत्रिम तथा अमानवीय है। उसका वर्णन करना असम्भव है। जिसने उनका साक्षात् दर्शन किया है, वही उनकी महिमा जानता है।... श्रीमाँ की अहैतुकी कृपा के बिना उनका दर्शन प्राप्त करना असम्भव है।" आयु में छोटे होने के कारण माँ के पास हरिपद का सभी विषयों में एक विशेष अधिकार था। मातृभक्त हरिपद सदैव ही माँ के छोटे-मोटे कार्य पूरे करने को तैयार रहते थे। कभी ऐसा दृश्य भी देखने में आता कि वे रोटियाँ बेल रहे हैं और माँ उन्हें चूल्हे में सेंक रही हैं। उस बार माँ के घर में हरिपद को वीरभक्त गिरीश के भावविभोर जीवन का और भी घनिष्ठ रूप से परिचय पाने का सौभाग्य मिला था। आमोदर नदी के तट पर खुले तथा नीरव परिवेश में भक्तभैरव गिरीश चन्द्र के सवा सोलह आने भक्ति से युक्त प्राणों को उन्मत्त कर देनेवाले ये भजन जीवन भर के लिये उनके स्मृति-पटल पर अंकित हो गये थे –

(१) चमके चपला चमके प्राण,
चाहो माँ चपला-हासिनी।

(२) मदमत्ता मातंगिनी उलंगिनी नेचे धाय,
तड़ित कुन्तल-जाल विजड़ित पाय पाय।।

फिर जब वे इतने बड़े महाकवि को स्नान के बाद गीले वस्त्र पहने ही माँ के पर्णकुटीर के छोटे-से आंगन की धूलि में लोटकर दण्डवत करते देखते, तो उनके आँसुओं से भीगे मुखमण्डल को देखकर हरिपद भी भाव में रोमांचित हो उठते थे। परवर्ती काल में उन्होंने स्वयं कहा था, "वह दृश्य मेरे मानस-पटल पर अब भी जाज्वल्यमान है।" अस्तु। बाद में उन्होंने और भी दो बार जयरामबाटी में और कई बार बेलूड़ के नीलाम्बर बाबू के उद्यान-भवन तथा बागबाजार के मकान में श्रीमाँ के चरणों का दर्शन प्राप्त किया था।

मठ के साथ हरिपद का सम्बन्ध क्रमश: प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर होता जा रहा था। व्यावहारिक रूप से मठ में सम्मिलित न होने पर भी, वे मानो मठ के ही अंग हो गये थे। नवम्बर, १८९१ ई. में जिस दिन मठ वराहनगर से स्थानान्तरित होकर आलमबाजार गया, उस दिन वे मठ में रहकर सारे दिन मठ की चीजें ढोने में लगे रहे। १८९५ ई. में जब स्वामी ब्रह्मानन्दजी तीर्थ-भ्रमण के बाद मठ में लौट आये, तब हरिपद को महाराज की थोड़ी-बहुत व्यक्तिगत सेवा करने का भी सुयोग मिला था। हरिपद की सेवा महाराज को खूब पसन्द थी। हरिपद तब तक बी. ए. पास करके जगतवल्लभ उच्च विद्यालय में शिक्षक नियुक्त हो गये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि १८९८ ई. के पूर्वार्ध तक उन्होंने उसी विद्यालय में शिक्षण का कार्य करके उसकी पुरातन परम्परा को और भी गौरवान्वित किया था। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि यह विद्यालय बंगाल की एक प्राचीन शिक्षा-संस्था है; इसकी स्थापना कलकत्ता विश्वविद्यालय से भी काफी पूर्व हुई थी।

❖ (क्रमशः) ❖

कर्मयोग – एक चिन्तन (७)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

यह संसार हमारे कर्मों से मिला। आइए, अब कर्मों के बारे में थोड़ा विचार करें। कर्म तीन प्रकार के होते हैं – १. संचित कर्म २. प्रारब्ध कर्म और ३. क्रियमाण कर्म। संचित कर्म क्या है? एक उदाहरण आपके सामने रखता हूँ। मान लीजिए, आप किसी बैंक में बीस लाख रूपये जमा करके रखे हैं। यह आपका संचित धन है।

आप राजकोट से मुंबई जा रहे हैं या कहीं परदेश के लिये जा रहे हैं। आपको हवाई जहाज का टिकट लेना है। आप यह दिखाकर कि मेरा बीस लाख रूपया बैंक में जमा है, हवाई जहाज का टिकट नहीं निकाल सकते। आपके पास रूपये होने चाहिये। तब आपने बैंक से बीस लाख में से पाँच लाख रूपये निकाल लिया। अब पाँच लाख रूपये आपके हाथ में है, जिसका आप उपयोग कर सकते हैं। यह आपका प्रारब्ध है। तो संचित कर्म जो सैकड़ों जन्मों से हमने जमा किये है, वह हमारे खाते में जमा है। दूसरा कोई उसको नहीं भोगेगा, उसको हमको ही भोगना पड़ेगा। बीस लाख रूपये में से पाँच लाख रूपये निकालना और वह पैसा हाथ में आना इसका नाम है प्रारब्ध।

प्रारब्ध देश, काल और निमित्त पर निर्भर करता है। कैसे? इसे हम उदाहरण द्वारा समझें। अरब देश में जिसको मृत्यु-दंड की सजा मिलती है, उसको बीच बाजार में, जहाँ सैकड़ों लोग जमा हैं, वहाँ सबके सामने तलवार से उसका सिर काट देते हैं।

एक था वधिक, उसके दो पुत्र थे। बड़े पुत्र ने कहा कि मैं यह पैतृक व्यवसाय नहीं करूँगा, दूसरा काम करूँगा। उस देश में पैसों की कोई कमी नहीं है। वह दूसरे व्यवसाय में लग गया। किन्तु छोटे पुत्र ने कहा – मैं पिताजी का काम ही आगे करूँगा। समाचार पत्र में उसका साक्षात्कार आया था। घर में पिताजी इस छोटे पुत्र को दिखाकर सीखा रहे हैं कि कैसे तलवार हाथ में लेना है और जिसको सजा मिली है, उसका गला कैसे काटना है। इस लड़के ने बाद में ऐसे ही काम करना शुरू किया और पिताजी ने उसको शाबासी दे दी। वहाँ पब्लिक के सामने यह सब करते हैं, लोग तालियाँ बजाते हैं। अब प्रश्न उठता है कि उस लड़के का जन्म उस घर में क्यों हुआ? हमारे घर क्यों नहीं हुआ? उसी देश में किसी व्यापारी, व्यवसायी के घर में उसका जन्म क्यों नहीं हुआ? इस क्यों का आप कोई कारण दे सकते हैं? इसका एक ही कारण है 'ईश्वर की इच्छा'। देश काल और निमित्त इसमें बहुत अर्थपूर्ण रहते हैं। उस माता-पिता ने इसके निमित्त बनकर इसको जन्म दिया। वह देश यदि भारतवर्ष होता तो यह अवसर उसे यहाँ नहीं मिलता। यह देश उसके अनुकूल नहीं था। काल पहले था। यदि दो हजार साल बाद वह पैदा होता, तो शायद उसे यह कर्म न करना पड़ता। अत: इस बात को दृढ़तापूर्वक मन में बिठाना पड़ेगा कि हमारे सैकड़ों जन्मों के कर्म देश, काल और निमित्त के अनुकूलता से ही फलित होते हैं। आप हम जहाँ हैं, जैसे हैं, वह हमारे कर्मों के परिणामस्वरूप मिला है। लेकिन यह कर्म हमारे मुक्ति और बंधन का साधन हो सकता है। प्रारब्ध से अर्थात् देश-काल और निमित्त से हमको जो अवसर मिला है। प्रारब्ध को इस दृष्टान्त से समझें – टेबल पर दो ग्लास रखे हैं। एक ग्लास में दूध है और दूसरे में शराब रखी है। तो प्रारब्ध ने हमें यह अवसर दिया। किन्तु उन दोनों में से चुनाव करना, मनुष्य का विवेक है, पुरुषार्थ है, वह प्रारब्ध पर निर्भर नहीं है। पशु में यह विवेक-शक्ति नहीं होती है।

आज हमें चिड़ियाघर दिखाने ले गये थे। उसमें सिंह है। उसे खाने के लिये प्रतिदिन बारह किलो मांस दिया जाता है। वहाँ भालू भी है। उसको हमने अपने हाथ से चीकू खिलाया। बड़े प्रेम से उसने खा लिया। हम भालू को चीकू खिलायें या सिंह को मांस खिलायें, यह चुनाव हमारे हाथ में है। हम वहाँ के अधिकारी को कह सकते थे कि हम शेर को अपने हाथ से मांस खिलाना चाहते हैं। तो यह चुनाव हमारे हाथ में है। प्रारब्ध से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रारब्ध ने हमें यह अवसर दिया। उस अवसर का उपयोग करना, दुरुपयोग करना हमारे हाथ में है। इसीलिए हमें कर्म करने का जो अवसर मिला है, उससे हम चाहें तो मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं या वासना में डूबकर जन्म-मरण के चक्र में फँस सकते हैं। विश्व को हिन्दू धर्म की ये विशेष देन है, जिसका नाम है स्वधर्म – जो धर्म, हर व्यक्ति को मिला है। स्वधर्म के द्वारा हम अपनी उन्नति कर सकते हैं, विकास कर सकते हैं और मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु स्वधर्म की उपेक्षा करने पर हम और गहरे अज्ञान अन्धकार में डूब सकते हैं। वर्तमान जीवन जो मिला है, उसका नाम प्रारब्ध है। वर्तमान जीवन एक ऐसा सुअवसर है, जो हमें ईश्वर के द्वारा दिया गया है।

क्रियमाण कर्म क्या हैं? आपने बैंक से बीस लाख में से

पाँच लाख खर्च किए और लौटकर आकर फिर व्यवसाय किया और रूपये कमाये। जब कुछ कर्म किया, तभी तो रूपये कमाये। तो क्रियमाण अर्थात् जो कर रहे हैं। बैंक में बीस लाख के तीस लाख हो सकते है, करोड़ों भी हो सकते हैं। तो क्रियमाण कर्म यानि आप जो कमा रहे हैं, वे रूपये भी आपके हाथ में आयेंगे। पहले जो था, वह तो रहेगा ही। वर्तमान में जो रूपये कमा रहे हैं, वे भी आपके हाथ में हैं, आप जमा करें या न करें वह आपकी इच्छा है।

आपका क्रियमाण कर्म ऐसे फल उत्पन्न करेगा, जिसका भोग आवश्यक है। अब इस जीवन में कोई व्यक्ति ऐसे कर्म कर रहा है, जिसे भोगने के लिये एक हजार वर्ष लगेंगे। तो यह देह एक हजार वर्ष रहेगी क्या? नहीं रह सकती। तो इस देह के समाप्त होते ही मेरा क्रियमाण कर्म मेरे संचित कर्म में जमा हो गया और उसके लिये मुझे फिर से जन्म लेना पड़ेगा। कर्मयोग की साधना करने वाले साधकों को इस तत्त्व पर विश्वास करना चाहिये। हम विश्वास करें या न करें, कर्म अपना फल देगा ही। हम चाहें या न चाहें, हमें वह भोगना पड़ेगा ही। यदि हमने इस बात को बुद्धिपूर्वक समझ लिया है, तो उस कर्म को हम साधना में बदल सकते हैं।

मनुष्य जीवन के ऐसे दो उदाहरण देखें। एक पति-पत्नी अच्छी नौकरी में हैं। दोनों को मिलकर समझ लिजिये पन्द्रह लाख रूपये तक वेतन मिलता है। अब का जमाना पैकेज का है। दोनों को कुछ ७-८ लाख पैकेज मिलता है। दोनों मेरे पास आये। मैं उन्हें अच्छी तरह से पहचानता हूँ। वे कहने लगे कि क्या करें इतना पैसा तो मिलता है, लेकिन दूसरा कुछ करने का समय ही नहीं मिलता। अब रोज सुबह सात बजे घर से जाकर रात आठ बजे वापस आना है। जब अधिकारी पैकेज देता है, तो वह काम तो करायेगा ही।

एक दूसरे सज्जन, जो फिजिक्स के प्रोफेसर हैं। कॉलेज में – दिन में एक घंटा उनको पढ़ाना पड़ता है। हफ्ते में सात घंटा पढ़ाते हैं। पत्नी नौकरी नहीं करती। उनको एक बच्ची है। वे लोग भी आश्रम में आते हैं। उन लोगों का भी मुझसे अच्छा परिचय है। वे दोनों बहुत आनन्द में हैं। उस लड़के से मैंने पूछा कि, तुझे कोई पैकज वाली नौकरी नहीं मिल सकती क्या? तो उसने कहा कि जो विद्या मैंने पढ़ी है, उसमें तुरन्त मुझे बड़ी पैकेज वाली नौकरी मिल सकती है। उसने एक किताब लिखा है, जो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्ध हुई है। किन्तु वह पैकेज वाली नौकरी नहीं करना चाहता। क्योंकि उसमें चौदह-सोलह घंटे काम करने पड़ेंगे। वह अपनी विद्या में इतना निपुण है कि एम.एस.सी. या पी.एच.डी. के बच्चों को पढ़ाने या तैयारी के लिये उसे आधा घंटा बहुत है। बाकी समय में वे दम्पति आश्रम में आकर साधु-संग करते हैं, दूसरे किसी स्थानों में भी घूमने के लिये जाते हैं। वे दोनों बहुत आनन्द से जीवन बीता रहे हैं।

अब आप विचार करें कि यह चुनाव किसने किया? यह चुनाव किसके हाथ में है? निश्चय ही व्यक्ति के हाथ में यह चुनाव-शक्ति है। बीस लाख रूपये कमाकर भी एक पति-पत्नी आनन्द में नहीं है। उनको एक दूसरे से बात करने को भी समय नहीं है। यह प्रारब्ध नहीं है, इसके लिए वे स्वयं उत्तरदायी हैं। उनके जीवन में धर्म की निष्ठा नहीं है। उनके जीवन में भोग की विकृत आकांक्षा है। भोग-आकांक्षा भी यदि संतुलित होती, तो समझ में आ जाता और सब ठीक होता। किन्तु यह भी उनके जीवन में नहीं है। अब इन बच्चों ने किसी महानगरी में ९० लाख रू. का एक फ्लैट खरीदा है। एक दिन गर्व से मुझे बताने आये। मैंने पूछा कि उसमें तुम लोग कितने समय तक रहते हो? उनलोगों ने कहा कि सिर्फ ७-८ घंटे ही रहते हैं। वह समय भी सोने में ही व्यतीत होता है। अब बताइए। मैंने उनसे पूछा कि ९० लाख की फ्लेट खरीदने की क्या गरज थी? तुमको तो एक हजार रू. में किसी भी होटल में एक अच्छा बेडरूम मिल जाता। वहाँ आराम से जाकर सो जाते। उनलोगों के जीवन में खाने-पीने, बातचीत करने इसके लिये भी ठीक समय नहीं है। उनके जीवन में भोग की भी निष्ठा नहीं है और योग की भी निष्ठा नहीं है। इतो नष्टः ततो भ्रष्टः – यहाँ से भी गया, वहाँ से भी गया। इसलिये हमारे जीवन में प्रारब्ध ही सब कुछ नहीं है, विवेक की भी बड़ी भूमिका है। इस प्रकार कर्म के तीन प्रकार हैं। कर्मयोगी कर्म में नहीं बँधता है, वह कर्मयोग के द्वारा मुक्त हो जाता है।

कर्मयोग कैसे करें? जब अर्जुन ने कहा कि यदि कर्म की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, तो आप मुझे घोर कर्म के झंझट में क्यों फँसा रहे हैं? तब भगवान कहते हैं –

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः। (२.३७)

हे अर्जुन, यदि तुम युद्ध करते हुये मर जाओगे, तो स्वर्ग की प्राप्ति होगी और यदि जीत जाओगे, तो पृथ्वी के राज्य का भोग करोगे। इसलिये स्वर्ग या राज्य दोनों में से कोई भी चाहिये, तो तुम्हें युद्ध करना ही पड़ेगा, इसका कोई विकल्प नहीं है। इसलिये उठो और युद्ध (कर्म) करो !

अब यहाँ भगवान कर्म करने की कला सीखा रहे हैं। जिसमें वेदान्त-दर्शन और उपनिषदों का सार समाहित है, जिसे जीवन में अपना कर सब सुखी हो सकते हैं। वेदान्त की भाषा में हमारे जीवन में दु:खों की आत्यंतिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी विवेकानन्द की बोधगया-यात्रा (१)

स्वामी विदेहात्मानन्द

स्वामीजी की यात्राएँ

स्वामी विवेकानन्द को मात्र ३९ वर्ष से कुछ अधिक की आयु प्राप्त हुई थी। परन्तु इस अल्पावधि जीवन में ही उन्होंने सारे भारत के विविध अंचलों और पूरे विश्व के अनेक देशों की यात्राएँ की थी। उनकी आयु का पूर्वार्ध माता-पिता के संरक्षण में शिक्षा-ग्रहण आदि में बीता था। उस दौरान उन्होंने कोई विशेष यात्रा नहीं की थी; अपवाद है उनकी रायपुर-यात्रा। जहाँ तक हमें विदित है स्वामीजी ने अपनी तरुणाई में पहली यात्रा रायपुर के लिये की थी; और वह भी अपने पिता के कार्यक्षेत्र में स्थानान्तरण के निमित्त से। उस समय वे वहाँ करीब डेढ़ वर्ष बिताकर कलकत्ते लौटे थे। १८८१ ई. में श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आने के बाद उनकी पहली यात्रा बोधगया के लिये हुई। यह घटना स्वामीजी के जीवन में इसलिये विशेष महत्त्व रखती है कि साधक के रूप में यह उनकी पहली तीर्थयात्रा थी, जो श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में ही हुई थी। स्मरणीय है (१९०२ में) स्वामीजी के जीवन की अन्तिम यात्रा भी बोधगया-वाराणसी की ही हुई थी।

तरुणाई में बुद्ध का दर्शन

स्वामीजी की बोधगया-यात्रा का विवरण देने के पूर्व उनके भगवान बुद्ध से आत्मिक सम्बन्ध के विषय में कुछ जान लेना उचित होगा। स्वामीजी कहते थे कि बुद्धदेव ने एक हिन्दू के रूप में ही जन्म लिया और हिन्दू के रूप में ही देहत्याग किया। उन्हीं के विचारों को आत्मसात् करके ही प्राचीन वैदिक धर्म वर्तमान हिन्दू धर्म में रूपान्तरित हुआ है। अत: हिन्दू धर्म को समझने के लिये बुद्धदेव तथा विश्व के प्रति उनके अवदान को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

स्वामी विवेकानन्द का बचपन से ही भगवान बुद्ध के प्रति विशेष आकर्षण था। उन्हें अपनी किशोरावस्था में ही एक बार भगवान बुद्ध का दर्शन हुआ था। शुरू में नरेन्द्रनाथ ब्राह्म-समाज की पद्धति से निराकार-सगुण ब्रह्म का ध्यान किया करते थे। ऐसे ध्यान में ईश्वर में मानवीय गुणों की कल्पना वर्जित है। वे प्रार्थना करते – "हे ईश्वर, आप मुझे अपने सत्य-स्वरूप के दर्शन का अधिकारी बनायें" और अपने मन से हर तरह के विचारों से मुक्त करके वायुहीन स्थान में स्थिर दीपशिखा की भाँति अपने मन को निश्चल रखने का अभ्यास किया करते। थोड़े ही दिन के ऐसे अभ्यास से उनका चित्त इतना तन्मय हो जाता कि कभी-कभी तो उन्हें अपने शरीर तक का बोध विस्मृत हो जाता। घर के दूसरे लोगों के सो जाने पर वे अपने कमरे में ध्यान करते हुए अनेक रातें बीता दिया करते थे। ऐसे ही ध्यान के दौरान एक दिन उन्हें एक दिव्य दर्शन मिला। जिसका विवरण उन्हीं से सुनकर स्वामी सारदानन्दजी ने इस प्रकार लिपिबद्ध किया है – ध्यान करते समय "मन को अवलम्बन-शून्य करके स्थिर रखने पर मेरे अन्तर में एक प्रशान्त आनन्द की धारा प्रवाहित होती थी। उसके प्रभाव से ध्यान भंग होने पर भी नशे के समान विभोर रहने के काफी समय बीत जाता था। अत: सहसा आसन छोड़कर उठने की इच्छा नहीं होती थी।

"एक दिन ध्यान के अन्त में उसी प्रकार बैठे हुए मैंने देखा – सहसा दिव्य ज्योति से कमरे को पूर्ण करते हुए एक संन्यासी-मूर्ति प्रकट होकर मेरे सामने कुछ दूरी पर खड़ी हो गयी। उनके शरीर पर गेरुआ वस्त्र, हाथ में कमण्डलु और मुखमण्डल पर एक ऐसा स्थिर, प्रशान्त तथा सब विषयों में उदासीनता युक्त अन्तर्मुखी भाव था कि उसने मुझे विशेष रूप से आकृष्ट करके स्तम्भित कर दिया। वे मेरी ओर देखते हुए मानो कुछ कहने के लिये धीरे-धीरे मेरी ओर बढ़ने लगे। भय के कारण मैं इतना अधिक अभिभूत हो गया कि तत्काल द्वार खोलकर बाहर निकल आया। अगले ही क्षण मन में आया कि इतना भय किस बात का? साहस बटोर कर उन संन्यासी की बात सुनने के लिए मैं पुन: कमरे में प्रविष्ट हुआ। पर बहुत देर तक प्रतीक्षा करने पर भी वे पुन: दिखायी नहीं पड़े। मैं दुखी चित्त से सोचने लगा – उनकी बात न सुनकर भाग जाने की दुर्बुद्धि मुझमें कहाँ से आ गयी? संन्यासी तो मैंने अनेक देखे हैं, पर श्रीमुख का ऐसा अपूर्व भाव कभी किसी में नहीं देखा। वह चेहरा मेरे चित्त पर सदा के लिए अंकित हो गया।... लगता है कि उस दिन मैं भगवान बुद्धदेव का पवित्र दर्शन प्राप्त करके धन्य हो गया था।"[१]

यही प्रसंग स्वामीजी से सुनकर उनके शिष्य शरच्चन्द्र चक्रवर्ती ने इन शब्दों में लिपिबद्ध किया है, "स्कूल में पढ़ते समय एक दिन रात में द्वार बन्द करके ध्यान करते-करते मन भलीभाँति तन्मय हो गया। कह नहीं सकता कि मैं कितनी देर वैसे ही ध्यान करता रहा। ध्यान भंग होने पर भी मैं बैठा था। तभी देखता हूँ कि दक्षिणी दीवार को भेदकर एक ज्योतिर्मयी मूर्ति निकली और मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी। उसके मुख पर एक अद्‌भुत ज्योति थी, परन्तु भाव मानो कुछ भी न था। प्रशान्त संन्यासी मूर्ति! मस्तक मुण्डित और हाथों में दण्ड-कमण्डलु था। मेरी ओर टकटकी लगाकर कुछ तक देखती रही – मानो मुझसे कुछ कहेगी। मैं भी अवाक् होकर उसकी ओर देखने लगा। इसके बाद मन ऐसा भयभीत हुआ कि मैं शीघ्र ही द्वार खोलकर बाहर निकल

१. श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, भाग २, सं. २००८, पृ. ८८०-८१

आया। फिर मैं सोचने लगा – मैं मूर्ख के समान इस प्रकार भाग क्यों आया, सम्भव था कि वह मुझसे कुछ कहती! परन्तु फिर कभी उस मूर्ति के दर्शन नहीं हुए। कितने ही दिन सोचा कि यदि फिर उसके दर्शन मिलें, तो डरूँगा नहीं, बातें करूँगा; परन्तु फिर दर्शन ही नहीं हुआ।... अब लगता है कि मैंने उस समय भगवान बुद्धदेव को देखा था।''[२]

भगवान बुद्ध मानो उन्हें दर्शन देकर उनके व्यक्तित्व के साथ एकाकार हो गये थे। तभी तो अमेरिका जाते समय जब स्वामीजी जापान में ठहरकर वहाँ का परिदर्शन कर रहे थे, तो उनके व्यक्तित्व का भगवान बुद्ध के साथ साम्य देखकर वहाँ के लोग विस्मित रह जाते थे। बुद्धदेव के साथ यह समानता और उनके प्रति आकर्षण स्वामीजी के मन में पहले से ही था। महापुरुष शिवानन्द जी ने अपने जीवन के अन्तिम पर्व में एक दिन एक स्वप्न देखा, जिसका वर्णन करते हुए उन्होंने कहा था, ''स्वामीजी आये थे, उनकी अपूर्व दिव्य उज्ज्वल मूर्ति थी। उन्होंने कहा – तारक दादा, मैं बुद्ध रूप में और तुम आनन्द के रूप में आये थे, तुम्हें याद है न?' ''[३]

काशीपुर-उद्यान में बौद्ध ग्रन्थों की चर्चा

नरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आये और प्राय: ही उनसे मिलने दक्षिणेश्वर आने लगे। कुछ वर्षों बाद श्रीरामकृष्ण के गले में सूजन हुआ और क्रमश: उसकी घातक कैंसर रोग के रूप में पहचान हुई। स्वामी सारदानन्द लिखते हैं, ''गले के रोग की चिकित्सा के लिए भक्तों ने श्रीरामकृष्ण को पहले कलकत्ते के श्यामपुकुर मुहल्ले में एक किराये के मकान में तथा बाद में कलकत्ते से कुछ उत्तर की ओर स्थित काशीपुर के एक बगीचे में लाकर रखा था।''[४] उनकी सेवा करने के निमित्त उनके अनेक युवा शिष्य भी उसी उद्यान-भवन में आकर निवास करने लगे। वहाँ वे लोग नरेन्द्र की प्रेरणा से शास्त्र-अध्ययन तथा साधना आदि पर विशेष जोर दिया करते थे। उनका विश्राम का समय गूढ़ आध्यात्मिक चर्चा में व्यतीत होता, फिर रात्रि के गहन अन्धकार में प्रज्वलित धूनी के समक्ष वे ध्यानमग्न रहते। नरेन्द्र कभी-कभी ध्यान करने दक्षिणेश्वर भी चले जाते थे।[५] उन दिनों वे लोग बौद्ध ग्रन्थ पढ़ते और आपस में बौद्ध मत पर चर्चा भी करते। स्वामी अभेदानन्द (काली) ने लिखा है, ''काशीपुर के उद्यान में हम लोग नरेन्द्रनाथ के साथ सभी धर्मों तथा सभी अवतारों के विषय में चर्चा किया करते थे। बुद्धदेव ने क्या प्रचार किया था, यह जानने के लिये हम लोग ब्राह्मसमाज के साधु अघोरनाथ द्वारा लिखित 'बुद्धचरित' का पाठ करने लगे। नरेन्द्र, तारक तथा मैं बुद्धदेव के त्याग तथा कठोर तपस्या पर चर्चा करते हुए भावविह्वल हो जाते। उस ग्रन्थ में 'ललित-विस्तर' की जो गाथाएँ उद्धृत हुई थीं, उन्हें मैंने कण्ठस्थ कर लिया था। बुद्धदेव ने छह वर्षों तक कठोर तपस्या करने के बाद जो प्रतिज्ञा की थी, उसका ललित-विस्तर में वर्णन है। वह श्लोक इस प्रकार है –

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां
नैवासनात् कायमतश्चलिष्यते।।

इस श्लोक की मैं सदा आवृत्ति किया करता था। बुद्धदेव का चरित्र पाठ करते-करते, हमारे मन में उनकी तपस्या का स्थल बुद्धगया देखने की इच्छा अत्यन्त बलवती हो उठी।''[६]

इन्हीं दिनों की याद करते हुए तारकनाथ (स्वामी शिवानन्द जी) ने बताया था, ''एक समय हम लोगों के बीच भी बौद्ध धर्म को लेकर बहुत चर्चा आदि हुआ करती थी, यह बहुत दिनों पहले की बात है। उन दिनों स्वामीजी और हम सभी काशीपुर बगीचे में ठाकुर के पास रहते थे। स्वामीजी तो बड़े विद्वान् थे ही, हम लोगों ने भी कुछ-कुछ पढ़ा था। खूब तर्क-वितर्क होता था। उस समय हम लोग ईश्वर आदि कुछ नहीं मानते थे। हम लोगों की यह सब बातें सुनकर अन्य भक्तों को बड़ा दुख होता था। स्वामीजी स्वयं तो अधिक नहीं बोलते थे – बहस में मुझे ही लगा देते और मैं खूब बोलता था। स्वामीजी सब सुनते और मजा लेते रहते थे। कभी-कभी तो मैं यह भी कहता कि शरीर-बोध लाना ही अन्याय है, इससे ध्यान में विघ्न पड़ता है; यहाँ तक कि ईश्वर की भावना भी मन को निर्विषय नहीं होने देती। ऐसी बात नहीं कि हम लोग केवल मुख से ही यह सब कहा करते हो, उन दिनों हमारे ध्यान, दर्शन आदि भी सब इस भाव के अनुरूप होते थे। उस समय इस भाव में हम लोग इतना डूब गये थे कि अन्य किसी दूसरे प्रकार से सोच ही नहीं सकते थे। धीरे-धीरे यह बात ठाकुर के कानों तक पहुँची। ठाकुर ने यह सब सुनकर कहा, 'वे लोग जो कुछ कहते हैं, वह ठीक ही है। एक प्रकार की अवस्था आती है, जब साधक भगवान नहीं मानता।' मेरा यह भाव कई दिन रहा।''[७]

समकालीन विश्व में बुद्धचर्चा

उन दिनों स्वामीजी के मन में बुद्धदेव के प्रति प्रबल आकर्षण का एक अन्य कारण भी था। भगिनी निवेदिता लिखती हैं, ''अपने यौवन के आरम्भ में मेरे गुरुदेव जब दक्षिणेश्वर आने-जाने लगे थे, उसी समय जगत् की दृष्टि बौद्धधर्म की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुई थी। इन्हीं दिनों

२. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, प्र. सं. १९६३, पृ. ८५-८६
३. शिवानन्द-स्मृति-संग्रह, भाग ३, पृ. ५९६; **४.** श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, भाग २, सं. २००८, पृ. ६२१; **५.** श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका, सं. १९८६, भाग १, पृ. ३३

६. आमार जीवन कथा (बँगला), सं. २००१, अन्तिम पृष्ठ हस्तलिखित फोटोकॉपी; **७.** आनन्दधाम की ओर, ?पृ.१५२-३

अंग्रेज सरकार के आदेश पर बुद्धगया के विशाल मन्दिर के जीर्णोद्धार[८] का कार्य चल रहा था और राजेन्द्रलाल मित्र नामक एक बंगाली विद्वान् के भी इससे जुड़े होने के कारण भारतवासियों के बीच भी इस विषय में विशेष रुचि देखने में आ रही थी। इसके अतिरिक्त १८७९ ई. में सर एडविन अर्नाल्ड के 'लाइट ऑफ एशिया' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, जो अधिकांश स्थलों पर अश्वघोष द्वारा लिखित 'बुद्धचरित' का शब्दश: अनुवाद था। इस घटना ने भी अंग्रेजी-भाषी देशों के अल्प-शिक्षित सामान्य लोगों की कल्पना को गहराई से आन्दोलित कर दिया था। परन्तु स्वामीजी कभी किसी अन्य के मुख से सुनकर सन्तुष्ट नहीं होते थे और इस विषय में भी वे तब तक निश्चिन्त नहीं हुए, जब तक कि १८८७ ई. में उन्होंने अपने गुरुभाइयों के साथ मिलकर अध्ययन करने के लिये, न केवल 'ललित-विस्तर' ग्रन्थ को, बल्कि बौद्धधर्म की महायान शाखा के विख्यात ग्रन्थ 'प्रज्ञा-पारमिता'[९] को भी, उसके मूल (पाली)[१०] रूप में प्राप्त नहीं कर लिया। उनका संस्कृत भाषा का ज्ञान ही उनके पाली भाषा को समझने में सहायक हुआ, क्योंकि वह संस्कृत से ही उत्पन्न हुई है। डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र के ग्रन्थों तथा 'लाइट ऑफ एशिया' का अध्ययन स्वामीजी के जीवन की कोई क्षणिक घटना मात्र न थी। श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में रहते हुए ही उनके प्रमुख शिष्य के सूक्ष्म संवेदनशील चित्त पर इस प्रकार जो बीज पड़ा, वह उनके संन्यास-दीक्षा लेते ही पुष्पित हो उठा। क्योंकि उस समय उन्होंने जो पहला कार्य किया, वह यह था कि वे तत्काल बुद्धगया गये और उस महावृक्ष के नीचे बैठकर इस चिन्तन में डूब गये, 'यह क्या सचमुच ही सम्भव है कि उन्होंने जिस वायु में साँस लिया था, मैं भी उसी में साँस ले रहा हूँ? उन्होंने जिस धरती पर विचरण किया था, मैं उसी का स्पर्श कर रहा हूँ?' ...

"केवल बुद्ध की ऐतिहासिक प्रामाणिकता मात्र ने ही उन्हें मंत्रमुग्ध नहीं किया था। और कम-से-कम उतना ही सशक्त इसका दूसरा कारण यह था कि उनके नेत्रों के समक्ष उनके गुरुदेव का प्रत्यक्ष जीवन था, जो पच्चीस शताब्दियों पहले के सर्वजन-स्वीकृत इतिहास के साथ काफी कुछ साम्य रखता था। उन्होंने बुद्ध में रामकृष्ण परमहंस को और रामकृष्ण में बुद्ध को देखा था।"[११]

नरेन्द्रनाथ का भगवान बुद्ध से तादात्म्य

लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जैसे राजकुमार सिद्धार्थ त्याग -वैराग्य के भाव से अनुप्राणित होकर सत्य की अनुभूति हेतु अपने कुछ अन्य साधक-बन्धुओं के साथ बोधगया में कठोर तप कर रहे थे, वैसे ही नरेन्द्रनाथ और उनके अन्य गुरुभ्रातागण भी काशीपुर के उद्यान में घोर तपस्या आदि करते हुए गुरुदेव की सेवा तथा कठोर साधना में निरत थे। दोनों के भावों में इतनी समानता थी कि इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि नरेन्द्रनाथ के मन में वहाँ जाकर बुद्धदेव के भाव-स्पन्दनों के बीच जाकर ध्यान करने की इच्छा जाग्रत हुई हो।

बोधगया जाने का संकल्प

स्वामी सारदानन्द ने लिखा है, "उन दिनों हम लोग दिन-रात भगवान बुद्ध के अद्भुत जीवन और उनके त्याग-वैराग्य तथा तपस्या की चर्चा में निमग्न रहा करते थे। बगीचे के मकान के निचली मंजिल में दक्षिण ओर जिस कमरे में हम लोग सदा उठते-बैठते थे, उसकी दीवाल पर 'ललित-विस्तर' का बुद्धदेव के यह दृढ़ संकल्प युक्त श्लोक लिख रखा गया था, जिसका तात्पर्य था – यह शरीर भले ही चला जाय, परन्तु जब तक सत्य-लाभ नहीं होगा, तब तक हम इसी आसन पर बैठकर ध्यान-धारणादि करते रहेंगे – **इहासने शुष्यतु मे शरीरम्** ...। वह वाक्य दिन-रात हमारी आँखों के सामने रहता था और हमें सदा स्मरण कराता रहता था कि सत्य-स्वरूप ईश्वर-प्राप्ति के निमित्त हमको भी इसी प्रकार प्राणोत्सर्ग करना होगा। हमें भी यह करना होगा। इस प्रकार दिन-रात वैराग्य की चर्चा करते हुए स्वामीजी एक दिन सहसा बोधगया चले गये। पर वे कहाँ जायेंगे, कब लौटेंगे, यह किसी से नहीं कह गये; अत: हम लोगों में से किसी-किसी की यह धारणा हुई कि सम्भवत: वे पुन: वापस नहीं आयेंगे, हमको दुबारा उनका दर्शन प्राप्त नहीं होगा!"[१२]

यात्रा-विवरण

इस प्रकार हमने देखा कि किस प्रकार नरेन्द्रनाथ के मन में भगवान बुद्ध के परमज्ञान के सिद्धपीठ – बोधगया जाने की तीव्र आकांक्षा जाग उठी। वे अपने गुरुभाई काली तथा तारक को साथ लेकर वहाँ गये। साधक के रूप में उनकी यह पहली यात्रा थी और सौभाग्यवश इसके कई समकालीन वर्णन उपलब्ध हैं। आगे हम उन्हीं को क्रमबद्ध तथा धारावाहिक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। ❖ **(क्रमश:)** ❖

---

८. उस विशाल मन्दिर के चारों ओर उत्खनन का कार्य सर्वप्रथम १८७४ ई. में बर्मा की सरकार द्वारा आरम्भ हुआ। १८७९ ई. में अंग्रेज सरकार ने उसे अपने हाथ में ले लिया और १८८४ में वह कार्य पूरा हुआ। (पाद टिप्पणी – मूल ग्रन्थ); **९.** जो व्यक्ति को बुद्धि के परे – अतिचेतन (समाधि) अवस्था में ले जाता है। (पाद टिप्पणी – मूल ग्रन्थ); **१०.** उन दिनों ये दोनों ग्रन्थ डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र के सुयोग्य सम्पादन में एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित हो रहे थे। संस्कृत लिपि से सुपरिचित सामान्य पाठकों की सुविधा के लिये उन्हें पाली लिपि में नहीं, अपितु संस्कृत अक्षरों में ही छापा गया था। – स्वामी सारदानन्द (पाद टिप्पणी – मूल ग्रन्थ)

११. द मास्टर ऐज आइ सा हिम (अंग्रेजी), भगिनी निवेदिता, १९७२, पृ. २५२-५३; **१२.** श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, भाग २, पृ. ६२१

कठोपनिषद्-भाष्य (१९)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

भाष्यम् – अधुना यत् पदं गन्तव्यं तस्य इन्द्रियाणि स्थूलानि आरभ्य सूक्ष्म-तारतम्य-क्रमेण प्रत्यगात्मतया-अधिगमः कर्तव्य इति एवमर्थम् इदम् आरभ्यते –

भाष्य-अनुवाद – (विष्णु के) परम पद – अन्तरात्मा रूपी लक्ष्य प्राप्ति के लिये, स्थूल इन्द्रियों से आरम्भ करके सूक्ष्मता के तारतम्य-क्रम से कैसे अग्रसर हुआ जाय, यही बताने के उद्देश्य से अब यह अंश आरम्भ किया जाता है –

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ।। १.३.१०

अन्वयार्थ – **हि** निश्चय ही **इन्द्रियेभ्यः** इन्द्रियों से **अर्थाः** (उनके) विषय **पराः** उत्कृष्ट (सूक्ष्मतर, व्यापक तथा आत्मभूत) हैं, **अर्थेभ्यः च** और भोग्य विषयों से **मनः** मन **परम्** उत्कृष्ट हैं, **मनसस्तु** परन्तु मन से **बुद्धिः** बुद्धि **पर** उत्कृष्ट है, (और) **बुद्धेः** बुद्धि से **महान् आत्मा** महान् आत्मा **परः** उत्कृष्ट है।

भावार्थ – निश्चय ही इन्द्रियों से (उनके) विषय (तन्मात्राएँ) उत्कृष्ट हैं, और भोग्य विषयों से मन उत्कृष्ट है, परन्तु मन से बुद्धि उत्कृष्ट है (और) बुद्धि से महान् आत्मा उत्कृष्ट है।

भाष्यम् – स्थूलानि तावत् इन्द्रियाणि, तानि यैः परैः अर्थैः आत्म-प्रकाशनाय आरब्धानि तेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यः ते परा हि अर्थाः सूक्ष्मा महान्तः च प्रत्यगात्म-भूताः च ।

इन्द्रियाँ स्थूल हैं। जिन अर्थों (अपंचीकृत पंच-महाभूतों, तन्मात्राओं) के द्वारा, अपनी अभिव्यक्ति के लिये इन्द्रियों का निर्माण हुआ, वे (कारण-रूप तन्मात्राएँ) अपने कार्य (इन्द्रियों) की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, महान् तथा अन्तरंग (व्यापक) हैं।*

तेभ्यः अपि अर्थेभ्यः च परं सूक्ष्मतरं महत्प्रत्यात्मभूतं च मनः । मनः-शब्द-वाच्यम् । मनसः आरम्भकं भूत-सूक्ष्मम्, संकल्प-विकल्प-आदि-आरम्भकत्वात् । मनसः अपि परा सूक्ष्मतरा महत्तरा प्रत्यगात्मभूता च बुद्धिः, बुद्धि-शब्द-वाच्यम्-अध्यवसाय-आदि-अरम्भकं भूत-सूक्ष्मम् ।

उन (तन्मात्राओं) की भी अपेक्षा मन अधिक सूक्ष्म, महान् तथा व्यापक है। मन शब्द का अर्थ है वे (अपंचीकृत्) सूक्ष्म भूत, जो संकल्प-विकल्प आदि के आरम्भक (मूल स्थान) हैं। मन की अपेक्षा बुद्धि अधिक सूक्ष्म, महान् तथा व्यापक है। बुद्धि शब्द का अर्थ है वे (अपंचीकृत्) सूक्ष्म भूत जो अध्यवसाय (निर्णय) आदि के आरम्भक (मूल स्थान) हैं।

बुद्धेः आत्मा सर्व-प्राणि-बुद्धिनां प्रत्यगात्म-भूतत्वात् आत्मा महान् सर्व-महत्त्वात् अव्यक्तात् यत् प्रथमं जातं हैरण्यगर्भं तत्त्वं बोध-अबोधात्मकं महान् आत्मा बुद्धेः पर इति उच्यते ।।१०(६४)।।

समस्त प्राणियों की बुद्धि का अन्तर्निहित तत्त्व होने के कारण आत्मा; अव्यक्त से सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवाला, चैतन्यात्मक हिरण्यगर्भ तथा जड़ात्मक महत्तत्त्व-रूप जो महान् आत्मा है, वह बुद्धि से भी पर (अधिक सूक्ष्म, महान् तथा व्यापक) है।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।। १.३.११

अन्वयार्थ – **महतः** हिरण्यगर्भ से, **अव्यक्तम्** अव्यक्त (अव्याकृत मायातत्त्व) **परम्** उत्कृष्ट है, **अव्यक्तात्** अव्यक्त से **पुरुषः** परमात्मा, **परः** उत्कृष्ट है, **पुरुषात्** परमात्मा से **परम्** उत्कृष्ट **न किंचित्** कुछ भी नहीं है, **सा काष्ठा** वही चरम सीमा है, **सा** वही **परा गतिः** सर्वोच्च लक्ष्य है।

भावार्थ – हिरण्यगर्भ से, अव्यक्त उत्कृष्ट है, अव्यक्त से परमात्मा, उत्कृष्ट है, परमात्मा से उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है, वही चरम सीमा है, वही सर्वोच्च लक्ष्य है।

भाष्यम् – महतः अपि परम् सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्म-भूतं सर्वमहत्तरं च अव्यक्तम्, सर्वस्य जगतः बीजभूतम् अव्याकृत-नाम-रूपं सतत्त्वं सर्व-कार्य-कारण-शक्ति-समाहार-रूपम् अव्यक्तम् अव्याकृत-आकाश-आदिनाम-वाच्यं परमात्मनि ओतप्रोत-भावेन समाश्रितं वट-कणिकायाम् इव वट-वृक्ष-शक्तिः ।

भाष्य-अनुवाद – 'अव्यक्त' महत्तत्त्व से भी अधिक सूक्ष्म, महान् तथा व्यापक है। अव्याकृत नाम-रूप वाला, जो 'अव्यक्त' सम्पूर्ण जगत् का बीज-रूप है, सतत्त्व है, समस्त कार्यों तथा कारणों की शक्तियों का समाहार रूप है। अव्याकृत (अपंचीकृत) आकाश आदि नामवाला 'अव्यक्त' वट के सूक्ष्म बीज में वटवृक्ष की शक्ति के समान परमात्मा में ओतप्रोत रूप से आश्रित है।

* वैसे ही जैसे घड़े की अपेक्षा मिट्टी, आभूषण की अपेक्षा स्वर्ण और वस्त्र की अपेक्षा सूत अधिक सूक्ष्म, महान् तथा अन्तरंग (व्यापक) हैं।

तस्मात् अव्यक्तात् परः सूक्ष्मतरः सर्व-कारण-कारणत्वात् प्रत्यगात्मत्वात् च महान् च, अत एव पुरुषः सर्व-पूरणात्। ततः अन्यस्य परस्य प्रसंगं निवारयन् आह – पुरुषात् न परं किंचित् इति।

'पुरुष' समस्त कारणों का कारण और सबकी अन्तरात्मा है, अत: वह उस 'अव्यक्त' से भी अधिक सूक्ष्म, महान् तथा व्यापक है। सबमें पूरित (ओतप्रोत) होने के कारण उसे 'पुरुष' कहते हैं। इसके बाद कहीं उससे भी श्रेष्ठ वस्तु का प्रसंग न उठे, अत: उसका निवारण करते हुए श्रुति कहती है – 'पुरुष' की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्य कुछ भी नहीं है।

यस्मात् न अस्ति पुरुषात् चिन्मात्र-घनात् परं किंचित् अपि वस्तु-अन्तरम्, तस्मात् सूक्ष्मत्व-महत्त्व-प्रत्यागत्म-त्वानां सा काष्ठा निष्ठा पर्यवसानम्। अत्र हि इन्द्रियेभ्य आरभ्य सूक्ष्मत्व-आदि परिसमाप्तम्। अत एव च गन्तॄणां सर्व-गतिमतां संसारिणां सा परा प्रकृष्टा गतिः, 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' (गीता ८/२१) इति स्मृतेः ॥११ (६५)॥

चूँकि शुद्ध चैतन्य-घन 'पुरुष' की अपेक्षा उत्कृष्ट/श्रेष्ठ अन्य कोई भी वस्तु नहीं है, अत: सूक्ष्मता, महत्ता तथा व्यापकता में वही पराकाष्ठा (परिसीमा, अन्तिम वस्तु) है। सूक्ष्मता आदि को इन्द्रियों से आरम्भ करके यहीं पर समाप्त कर दिया गया। अत: यही समस्त चलनेवाली, आवामगन करनेवाली जीवात्माओं का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है, स्मृति कहती है कि 'जहाँ पहुँचकर उन्हें लौटना नहीं पड़ता'।

* * *

ननु गतिः चेद् आगतिः अपि भवितव्यम्। कथम् 'यस्मात् भूयो न जायते' इति?

शंका – यदि गति अर्थात् जाना है, तो फिर लौटना भी तो होना चाहिये। तो फिर ऐसा क्यों कहा कि 'जहाँ पहुँचकर उन्हें लौटना नहीं पड़ता'?

नैष दोषः। सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वात् अवगतिः एव गतिः इति उपचर्यते। प्रत्यगात्मत्वं च दर्शितम् इन्द्रिय-मनो-बुद्धि-परत्वेन। यो हि गन्ता सः अयम् प्रत्यक्-रूपं पुरुषं गच्छति अनात्मभूतं न विन्दति स्वरूपेण। तथा च श्रुतिः 'अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः' (इतिहासोप., १८) इत्याद्या। तथा च दर्शयति प्रत्यगात्मत्वं सर्वस्य –

समाधान – इसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि सबकी अन्तरात्मा होने के कारण यह सर्वदा प्राप्त वस्तु की ही प्राप्ति है। इन्द्रियों, मन, बुद्धि की अपेक्षा सूक्ष्मता, महानता तथा व्यापकता के द्वारा यही दिखाया गया है कि वह इन सबमें निहित है। यात्रा करनेवाला वस्तुत: अनात्मरूप – अपने से भिन्न वस्तु की ओर चलता है, न कि इसके विपरीत (अपनी ओर चलता है)। "संसार-मार्ग से पार होने की इच्छा रखनेवाले बिना-मार्ग वाले होते हैं।" आदि के द्वारा श्रुति भी यही कहती है। आगे यही दिखाया जा रहा है कि वही सबकी अन्तरात्मा है –

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।१.३.१२

अन्वयार्थ – एषः यह परमात्मा **सर्वेषु** समस्त **भूतेषु** जीवों में **गूढः** अविद्या माया से आच्छन्न है, (अतः) **आत्मा न प्रकाशते** (किसी के सामने) वह आत्मा के रूप में प्रकाशित नहीं होता, **तु** परन्तु **अग्र्यया** एकाग्रयुक्त **सूक्ष्मया** सूक्ष्म **बुद्ध्या** बुद्धि के द्वारा **सूक्ष्मदर्शिभिः** सूक्ष्मतम वस्तुओं को देखने में कुशल व्यक्तियों द्वारा **दृश्यते** देखने में आता है।

भावार्थ – यह परमात्मा समस्त जीवों में अविद्या माया से आच्छन्न है, अत: (किसी के समक्ष) आत्मा के रूप में प्रकट नहीं होता, पर एकाग्र सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा सूक्ष्मतम वस्तुओं को देखने में कुशल व्यक्तियों द्वारा देखने में आता है।

भाष्यम् – एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादि-स्तम्ब-पर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतः दर्शन-श्रवण-आदि-कर्म-अविद्या-माया-आच्छन्नः अत एव आत्मा न प्रकाशते आत्मत्वेन कस्यचित्।

भाष्य-अनुवाद – यह पुरुष (आत्मा) – ब्रह्मा से लेकर तिनके तक समस्त प्राणियों में छिपा हुआ; दर्शन, श्रवण आदि कर्म कर रहा है, परन्तु अविद्या माया से ढके होने के कारण, सबकी अन्तरात्मा होता हुआ भी, 'मैं ब्रह्म हूँ' इस रूप में प्रकाशित नहीं होता।

अहो अति-गम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा च इयं माया, यत् अयं सर्वः जन्तुः परमार्थतः परमार्थ-सत्त्वः अपि एवं बोध्यमानः अहं परमात्मा इति न गृह्णाति; अनात्मानं देह-इन्द्रिय-आदि-संघातम्-आत्मनः दृश्यमानम् अपि घट-आदिवत् आत्मत्वेन 'अहम् अमुष्य पुत्र' इति अनुच्यमानः अपि गृह्णाति।

अहो! यह माया कितनी गहन है, इसकी थाह पाना अत्यन्त कठिन है और यह नाना रूपों वाली है, अत: सभी प्राणी परमात्म-स्वरूप होकर भी और इस बात का बोध कराये जाने पर भी – मैं परमात्मा हूँ – ऐसी धारणा नहीं कर पाते। (दूसरी ओर) बिना बताये ही, घट आदि के समान देह-इन्द्रियों आदि के संघात रूप अनात्मा को आत्मा के रूप में – 'मैं अमुक का पुत्र हूँ' – ऐसा स्वीकार कर लेता है।

नूनं परस्य एव मायया मोमुह्यमानः सर्वः लोकः अयं बम्भ्रमीति। तथा च स्मरणम् – 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया-समावृतः' (गीता, ७/२५) इत्यादि।

परमात्मा की माया से मोहित होकर सारे प्राणी बारम्बार (जन्म-मृत्यु के चक्र में) घूम रहे हैं। स्मृति (गीता, ७/२५) में ऐसा ही लिखा है – 'मैं योगमाया से भलीभाँति ढका हुआ हूँ और सबके सामने प्रकाशित नहीं होता' आदि।

ननु विरुद्धम् इदम् उच्यते – 'मत्वा धीरो न शोचति' (कठ. २/२/४), 'न प्रकाशते' (कठ. १/३/१२) इति च ।

शंका – यह कैसी परस्पर-विरोधी बातें करते हैं – एक जगह कहते हैं, 'उसे जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता' और यहाँ कहते हैं, 'वह प्रकाशित नहीं होता'?

न एतत् एवम् । असंस्कृत-बुद्धेः अविज्ञेयत्वात् 'न प्रकाशते' इति उक्तम् । दृश्यते तु संस्कृतया अग्र्यया, अग्रम् इव अग्र्या तया, एकाग्रतया उपेतयेत्येतत्; सूक्ष्मया सूक्ष्म-वस्तु-निरूपण-परया । कैः? सूक्ष्मदर्शिभिः 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादि-प्रकारेण सूक्ष्मता-पारम्पर्य-दर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनः, तैः सूक्ष्मदर्शिभिः, पण्डितैः इति एतत् ।।१२ (६६) ।।

समाधान – ऐसी बात नहीं है। संस्कार रहित (अशुद्ध) बुद्धिवाले के लिये कहा गया कि 'प्रकाशित नहीं होता', परन्तु संस्कारयुक्त (शुद्धीकृत) नुकीली एकाग्रीकृत सूक्ष्म वस्तु के निरूपण में (परायण) रस लेनेवाली सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा होता है। किन लोगों के द्वारा होता है? सूक्ष्म तत्त्व को देखनेवालों के द्वारा। 'इन्द्रियों से उत्कृष्ट तन्मात्राएँ हैं' आदि के द्वारा सूक्ष्मता का तारतम्य देखने के बाद सूक्ष्मतम को देखने में कुशल हैं, जो लोग, वे सूक्ष्मदर्शी हैं।

* * *

भाष्यम् – तत् प्रतिपत्ति-उपायम् आह –

अनुवाद – अब उसकी प्राप्ति का उपाय बताते हैं –

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्
तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्
तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।। १.३.१३

अन्वयार्थ – **प्राज्ञः** विवेकी व्यक्ति **वाक्** वाक् (आदि इन्द्रियों) को **मनसि** (संकल्प-विकल्पात्मक) मन में **यच्छेत्** लय करे, **तत्** उस मन को **ज्ञाने** प्रकाशमय **आत्मनि** निश्चयात्मिका बुद्धि में **यच्छेत्** लय करे, **ज्ञानम्** (फिर) उस बुद्धि को **महति आत्मनि** प्रथम-उत्पन्न (समष्टि-बुद्धि) हिरण्यगर्भ में **नियच्छेत्** लय करे, **तत्** उस महान् आत्मा में **शान्ते** समस्त विषयों तथा क्रियाओं के शान्त हो जाने पर उसे **आत्मनि** मुख्य आत्मा में **यच्छेत्** लय करे।

भावार्थ – विवेकी व्यक्ति वाक् (आदि इन्द्रियों) को (संकल्प-विकल्पात्मक) मन में लय (अर्पित) करे, उस मन को प्रकाशमय निश्चयात्मिका बुद्धि में लय करे, (फिर) उस बुद्धि को प्रथम-उत्पन्न (समष्टि-बुद्धि) हिरण्यगर्भ में लय करे, उस महान् आत्मा में समस्त विषयों तथा क्रियाओं के शान्त हो जाने पर उसे मुख्य आत्मा में लय करे।

भाष्यम् – यच्छेत् नियच्छेत् उपसंहरेत् प्राज्ञः विवेकी । किम् ? वाक् वाचम् - वाक् अत्र उपलक्षणार्था सर्वेषाम् इन्द्रियाणाम् । क्व? मनसी मनसि इति छान्दसं दैर्घ्यम् ।

भाष्य-अनुवाद – विवेकी व्यक्ति को चाहिये कि लय कर देना चाहिये। क्या? वाणी को – वाणी यहाँ सभी इन्द्रियों के उपलक्षण के रूप में है। कहाँ? मन में। मनसी शब्द यहाँ वैदिक (आर्ष) प्रयोग होने से दीर्घ है।

तत् च मनः यच्छेत् ज्ञाने प्रकाश-स्वरूपे बुद्धौ आत्मनि । बुद्धिर्हि मन-आदि-करणानि आप्नोति इति आत्मा प्रत्यक् तेषाम् । ज्ञानं बुद्धिम् आत्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत् ।

उस मन को उसकी आत्मा-रूप प्रकाशमय बुद्धि में लय कर देना चाहिये। बुद्धि ही मन से लेकर सभी करणों (इन्द्रियों) में व्याप्त होकर स्थित होने से यही उनकी अन्तरात्मा है। बुद्धि को महान् आत्मा अर्थात् सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवाले (हिरण्यगर्भ) में लय कर देना चाहिये।

प्रथमजवत् स्वच्छ-स्वभावकम् आत्मनो विज्ञानम् आपादयेत् इत्यर्थः । तं च महान्तम् आत्मानं यच्छेत् शान्ते सर्व-विशेष-प्रत्यस्तमित-रूपे अविक्रिये सर्वान्तरे सर्व-बुद्धि-प्रत्यय-साक्षिणि मुख्ये आत्मनि ।। १३ (६७) ।।

अर्थात् प्रथमज हिरण्यगर्भ (महत्तत्त्व) जितना विशुद्ध है, व्यक्ति अपने स्वभाव को उतना ही स्वच्छ कर ले। उस महान् आत्मा को सभी विषेशणों से रहित, निष्क्रिय, समस्त बुद्धि-वृत्तियों के साक्षी शान्त आत्मा में लय करना चाहिये।

❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

यदा कदा वापि विपश्चिदेष
ब्रह्मण्यनन्तेऽप्यणुमात्रभेदम् ।
पश्यत्यथामुष्य भयं तदेव
यद्वीक्षितं भिन्नतया प्रमादात् ।।३३०।।

अन्वय – एषः विपश्चित् यदा कदा वा अपि अनन्ते ब्रह्मणि अणुमात्रभेदम् अपि पश्यति, अथ प्रमादात् भिन्नतया यद् वीक्षितं अमुष्य तद् एव भयं (भवति)।

अर्थ – इस विचारशील साधक को यदि कभी सर्वव्यापी अनन्त अखण्ड ब्रह्म में अल्प मात्र भी भेद दिखायी देता है, तो प्रमाद (असावधानी) के फलस्वरूप दिखनेवाली वह भेद ही उस साधक के लिये भय का कारण हो जाती है।*

* द्र. – सर्वं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद। (बृहदा., २/४/६)

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

रामकृष्ण मिशन, नरेन्द्रपुर

गत ३ अगस्त, २०११ को आवासीय महाविद्यालय का स्वर्णजयन्ती समापन समारोह मनाया।

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का विमोचन

रामकृष्ण संघ के महाध्यक्ष स्वामी आत्मस्थानन्दजी महाराज ने १२ सितम्बर २०११ को कलकत्ते की सुप्रसिद्ध संस्था 'रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर' के सभागृह में एक समारोह में बुद्धिजीवियों द्वारा प्रतीक्षित 'दि कल्चरल हेरीटेज ऑफ इंडिया' नामक ग्रन्थ के ८ वें खण्ड का विमोचन किया। यह ग्रन्थ उसी संस्था द्वारा प्रकाशित हुई है। वहीं से प्रकाशित एक अन्य बँगला ग्रन्थ 'शास्त्रमूलक भारतीय शक्ति-साधना' का भी महाराज ने विमोचन किया। सभा की अध्यक्षता रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव स्वामी प्रभानन्द जी ने किया।

दन्तेवाड़ा में सद्भावना शिविर का आयोजन

बस्तर में बढ़ रही नक्सली हिंसा से संत्रस्त होकर वहाँ मानवीय संवेदना और परस्पर सद्भावना को पुन: स्थापित करने के लिये राष्ट्रीय युवा योजना, नई दिल्ली के राष्ट्रीय निदेशक और विख्यात गाँधीवादी श्री एस. एन. सुब्बा राव के निर्देशन में दन्तेबाड़ा में १४ से २१ अक्टूबर तक सप्त-दिवसीय 'राष्ट्रीय युवा शान्ति सद्भावना शिविर' का आयोजन किया गया। इस शिविर में १४ राज्यों के १५३ भाई-बहनों ने भाग लिया।

अम्बिकापुर में राज्य स्तरीय युवा-सम्मेलन

अखिल भारतीय युवा महामण्डल, अम्बिकापुर और वेदान्त ट्रस्ट के तत्त्वधान में युवा महामंडल का प्रान्तीय युवा-शिविर रामकृष्ण विवेकानन्द सेवाश्रम, अंबिकापुर में २८, २९, ३० अक्टूबर, २०११ को आयोजित किया गया। इस शिविर में छत्तीसगढ़ गाँवों और शहरों के बहुत युवाओं ने भाग लिया। शिविर का निर्देशन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने किया। रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी शिविर के संयोजक और रामकृष्ण सेवा समिति के सचिव स्वामी तन्मयानन्द, सरगुजा विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. सुनील कुमार वर्मा जी, बिलासपुर के रेलवे विभाग के अधिकारी श्री नवीन सिंह जी, स्थानीय श्रीकान्त दूबे और छत्तीसगढ़ युवा महामंडल के सक्रिय संचालक श्री पाढ़ी जी ने अपने विचारों से बच्चों का मार्गदर्शन किया।

स्वामी प्रमेयानन्द जी ब्रह्मलीन हुए

रामकृष्ण मठ व मिशन के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी प्रमेयानन्द जी महाराज रामकृष्ण मिशन सेवा प्रतिष्ठान, कोलकाता में २० अक्तूबर, २०११ को ब्रह्मलीन हो गये। वे ७९ वर्ष के थे। उनके पार्थिव शरीर को बेलूड़ मठ लाया गया और भक्तों के दर्शनान्तर २१ अक्तूबर को अपराह्न में हजारों सन्तों-भक्तों की उपस्थिति में दाह-संस्कार सम्पन्न हुआ।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

श्रुतिस्मृतिन्यायशतैर्निषिद्धे
दृश्येऽत्र यः स्वात्ममतिं करोति।
उपैति दुःखोपरि दुःखजातं
निषिद्धकर्ता स मलिम्लुचो यथा ।।३३१।।

अन्वय – श्रुति-स्मृति-न्याय-शतैः निषिद्धे अत्र दृश्ये, यः स्व-आत्म-मतिं करोति, सः निषिद्धकर्ता मलिम्लुचः यथा दुःख-उपरि दुःख-जातं उपैति।

अर्थ – वेद-स्मृति तथा न्यायशास्त्र के सैकड़ों प्रमाणों के द्वारा निषिद्ध किये गये इस दृश्य संसार में जो व्यक्ति (मैं-मेरा-रूप) आत्मबुद्धि करता है, ऐसा निषिद्ध कर्म करनेवाला चोर के समान दु:ख-पर-दु:ख उठाता रहता है।

सत्याभिसन्धानरतो विमुक्तो
महत्त्वमात्मीयमुपैति नित्यम्।
मिथ्याभिसन्धानरतस्तु नश्येद्
दृष्टं तदेतद्यदचौरचौरयोः ।।३३२।।

अन्वय – सत्य-अभिसन्धान-रतः विमुक्तः नित्यं आत्मीयं महत्त्वं उपैति। मिथ्या-अभिसन्धान-रतः तु नश्येत्, तत् यद् एतत् अचौर-चौरयोः दृष्टम्।

अर्थ – सत्य – आनन्द-स्वरूप ब्रह्म की खोज में लगा हुआ, (अविद्याजनित मोह से) मुक्त हुआ व्यक्ति सर्वदा अपनी आत्म-स्वरूप की महिमा अनुभव करता है; परन्तु मिथ्या (अनित्य वस्तुओं) की खोज में लगा हुआ (देहाभिमानी) व्यक्ति बरबाद हो जाता है। इस बात की सत्यता सज्जन तथा चोर के दृष्टान्त* में दीख पड़ती है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

* पुरा काल में व्यक्ति चोर है या नहीं, इसकी परीक्षा हेतु छूने के लिये उसके समक्ष गरम की हुई तप्त लाल कुल्हाड़ी रखी जाती थी। चोर होने पर हाथ जल जाता था और उसे दण्डित किया जाता था। चोर न होने पर उसका हाथ नहीं जलता था। (छान्दोग्य.,६/१६/१-२)